मैं मानता हूँ कि एक मनुष्य आध्यात्मिकता प्राप्त करता है तो उसके साथ-साथ सारी दुनिया को भी वह लाभप्रद होती है। और एक मनुष्य का अगर पतन होता है, तो इतनी मात्रा में सारी दुनिया का भी पतन होता है।'

—महात्मा गांधी

'भारत में जैसे राजनीतिकक्षेत्र में लोकतंत्र सामाजिक मूल्य बन गया है, वैसे ही दुनिया के राजनैतिक तख्ते पर लोकतंत्र सामाजिक मूल्य बन सके इसके लिए प्रयत्न होने चाहिए। इतना ही नहीं, बल्कि सामाजिक-आर्थिक-क्षेत्र में लोकलक्षी लोकतंत्र सामाजिक मूल्य बन जाना चाहिये। व्यक्ति, समाज और राज्य इन तीनों का जब तक विश्वव्यापी अनुबन्ध न हो, वहाँ तक यह नहीं हो सकता।

—संतबाल

☆

'इस-देश में आमजनताकी सर्वांगी नीति के चोकीदार और चारित्र्य शील वर्ग की अनिवार्य आवश्यकता है। तभी धर्म और संस्कृति उन्नत हो सकते हैं। ऐसा वर्ग साधु संन्यासियों में से पहले भी मिल जाता था अब भी मिल जाना चाहिए। शुरुआत में ऐसी सर्वांगी अनुबन्ध जोड़ने वाली धर्मक्रान्ति में जो तकलीफ रहेगी वह बाद में विघ्नकारक नहीं होगी।'

संतबाल

☆

अनुबन्ध-विचारधारा

लेखक
मुनि नेमिचन्द्र

प्रकाशक
महावीर साहित्य प्रकाशन मन्दिर
हठीभाई की वाड़ी, अहमदाबाद-१

मुद्रक
वैद्यराज स्वामी श्री त्रिभुवनदासजी शास्त्री
श्री रामानन्द प्रिंटिंग प्रेस
कांकरिया रोड,
अहमदाबाद

दो शब्द

'अनुबंध विचारधारा' क्या है ? इसे समझने के लिये यह छोटी सी पुस्तक एक अपूर्व मार्गदर्शन का काम करेगी, ऐसा मैं समझता हूँ। अनुबंध का सीधा सादा अर्थ तो 'जोड़ना' होता है, परन्तु वास्तविक अर्थ होता है—'जो जहाँ योग्य हो, उसे उसका स्थान मिल जाय, इस प्रकार का जोड़ना'। इसे हम विवेकमय जोड़ (योग) अथवा जगत् के प्रभाव कारक बलों को यथानुक्रम व्यवस्थित करके दिया जाने वाला जोड़ (योग) कहें तो अधिक संगत अर्थ निकल सकता है।

आज विश्व में राजनैतिक क्षेत्र ने जबरदस्ती सर्वोपरिता ले ली है। विश्व में त्यागियों और तपस्वियों की कमी नहीं है। सारे विश्व में मनुष्य नरनारियों की जनसंख्या ढाई पौने तीन अरब के करीब है। मनुष्यजाति के पास अनूठी महाशक्तियाँ भी हैं और विश्व के सभी राष्ट्रों के मनुष्य परस्पर भाई-भाई के रूप में मिलने को आतुर हो रहे हैं ऐसी दशा में मानवशक्तियाँ क्या नहीं कर सकतीं ? बहुत-कुछ कर सकती हैं। मगर धन और सत्ता की लालसा ने सीमा जरूर तोड़ दी है और सेवा एवं स्नेह को ओर स्वाभाविक झुकवाली मानवतापूर्ण संस्थाएँ अभी तक प्रभावशाली रूप में अस्तित्व में नहीं आई। इसी कारण राजनैतिक क्षेत्र की सर्वोपरिता दिनोंदिन बढ़ती जाती है। वास्तव में, यह महान् दुःख का कारण है बड़ी चिन्ता का विषय है। तथापि भारत में ऐसी सामग्री पड़ी है, जो ऐसी संस्थाएँ पैदा करके राजनैतिक क्षेत्र पर अपना प्रभाव डाल सकती है। यही कारण है कि विश्वजनता भारत के प्रति आशाभरी नजरों से एक टक निहार रही है।

भारत ने महात्मा गांधीजी के निमित्त से राजनीतिक क्षेत्र की अपेक्षा जनसंस्थाएँ आगे आ सकती हैं यह पदार्थपाठ अहिंसक लड़ाई लड़कर सिद्ध कर दिखाया है। अलबत्ता, स्वराज्य के बाद कांग्रेस को विश्व के तख्ते पर सिर्फ राजनैतिक क्षेत्र में अद्वितीय स्थान लेने का अवसर मिला है, परन्तु उसे सार्थक करने का काम कांग्रेसी या अकेली कांग्रेस स्वयं चलकर नहीं कर सकती। अपितु उसके साथ पूरकप्रेरकबलों को जोड़ने का काम अपनी-अपनी मर्यादा में रहकर साधुसाध्वी कर सकें, इस हेतु, आगामी चातुर्मास में जो 'साधुसाध्वी शिविर का आयोजन किया जा रहा है उसके लिये यह छोटी-सी पुस्तक प्रभावशाली ढंग से महत्त्वपूर्ण भूमिका की पूर्ति करती है।

भारत में साधुसन्तसंस्था की तरफ गहरी लोक-श्रद्धा है। जनता में धन और सत्ता के बदले सेवा और स्नेह का स्थान अदा कराने का काम इस संस्था की चुनिंदा साधु-संस्थाएँ (साधु-साध्वियाँ) ही कर सकते हैं। ग्राम, नारीसमाज, पिछड़े हुए मानवसमाज और मुक्तकाल में जो कांग्रेस के पूरक थे और अब प्रेरक बन सकते हैं, ऐसे रचनात्मक कार्यकर्ताओं का सहयोग करके विश्वव्यापी रूप से सुयोग्य स्थान में जोड़ने का कार्य असाधारण है। इस भगीरथ कार्य को समन्वयकारी प्रेरक और आजीवन स्वार्थत्यागी साधुसाध्वी मिलकर ही प्रभावशालीरूप से पूर्ण कर सकते हैं।

पिछले काफी समय से भारत के जो साधुसाध्वी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (सारा विश्व हमारा कुटुम्ब है) सूत्र को मानकर तदनुसार आचरण करने के लिए बाहर आए थे, वे अब उस मूल सूत्र को भूल कर छोटे छोटे बाड़ों में प्रविष्ट हो गए हैं। इसके कारण जो उलझे हुए प्रश्न शीघ्र ही सुलझने और हल होने चाहिए थे, वे और अधिक उलझ कर विलम्ब में पड़ गये हैं। जैसे रोज मारकुटाई कर

उसके विरह में श्री रामचन्द्रजी पशु-पक्षी और वनस्पतिसृष्टि को भी उपालम्भ दे रहे थे, तब लक्ष्मण को यह पागलपन जैसा लगता था, किन्तु यह पागलपन न था अपितु व्यक्त और अव्यक्त जगत् के साथ चिरस्थायी सम्बन्ध के कारण था। शकुन्तला जब कण्वऋषि के आश्रम से विदा होती है, तब आश्रम के बटुओं के आँखों से अश्रुधारा बहने लगती है, इसी तरह आश्रम की गायें और हिरण भी उसकी ओर एकटक देखकर आँसू छलकाने लगते हैं और तो और आश्रम के झाड़ और बेलें भी उस समय मानो शोक से स्तब्ध हो जाती हैं। यह सिर्फ कवि की कल्पना ही नहीं, इसके पीछे सत्य है।

'रा' खेंगार के शरीर के गिरते ही उनके पीछे सती बनी हुई सती राणकदेवी के पुकार से पर्वतशिलाएँ धड़ाधड़ गिरने लगती हैं। और जब वह व्यथित उनसे कहती है— "गिरनार पर्वत! अब बस करो, मत गिरो! मत गिरो! मेरे वीर!" तो रुक जाती हैं। यह कितनी आत्मीयता है!! स्वामी रामतीर्थ भी हिमालय की वनराजि में प्रत्येक वृक्ष पत्ते, फूल आदि को सम्बोधन करते हुए अद्वैत का अनुभव कर रहे थे। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों को भी यही बात है पर्वतशिला पर मारने पर उनकी पीठ पर मार के निशान हो गये थे। पार्वतीपुत्र गणेश द्वारा एक बिल्ली के बच्चे को हाथ से खरोंचने पर पार्वती माता के गाल पर खरोंच के निशान बन गये थे। आश्चर्यचकित पुत्र ने माता पार्वती के गाल पर खरोंच के निशान देखे और पूछा तो उन्होंने कहा—"बेटा! तूने बिल्ली के बच्चे के गाल को खरोंचा उसके ये निशान हैं! जैसे तू मेरा बेटा है, वैसे वह भी है। उसको तकलीफ दी, उसका मुझे भी भान हुआ है"। महाभारत में सर्प, पक्षी और मानव के पूर्वज एक हैं, ऐसा उल्लेख मिलता है। इसीलिये चार्ल्स डार्विन का विकासवाद हमें आश्चर्यजनक नहीं लगता। अञ्जना और पवन दोनों वानी था और नर

दोनों के सहवास से हनुमान वानर पैदा हुए। समर्थ कवि व कालिदास ने रघुवंश में देवदारु वृक्ष को शंकर-पार्वती-पुत्र बता कर सुन्दर सम्बन्ध बताया है। भारतीय संस्कृति में गाय और बैल के साथ माता और पिता का सम्बन्ध माना गया है। इसी प्रकार आधुनिक जगत् में नागकन्या का मनुष्य के साथ विवाह असम्भव प्रतीत हो फिर भी मानवस्त्री के गर्भ में सर्परूप सन्तान होने के कारण तो आज भी कहीं कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिलते हैं। समुद्र के पानी में मुंह, मस्तक एवं छाती तक के मनुष्याकार स्त्रीपुरुष और नीचे का भाग मछली जैसा हो, ऐसे मानवाकृति जोड़े आज भी मिलते हैं। मतलब यह कि देव, मनुष्य, पशु पक्षी और वनस्पति तक के एक दूसरे के साथ प्रत्यक्ष संततिसम्बन्ध बताए गए हैं।

यहाँ तो हमें यह विवेचन करके यही बताना है कि यह सारा विश्व एकसूत्र में बंधा हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है। वेद में कहा है 'एकोऽहं बहु स्याम्' अर्थात् 'मैं एक हूँ, अनेक बन जाऊँ' सभी जीवों का मूल एक है, जिसे ब्रह्म, आत्मा, चैतन्य का विश्वनियंता चाहे जिस नाम से पुकारे।

गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को विराट् विश्वस्वरूपदर्शन कराया था। उसका रहस्य भी यही है कि मैं (आत्मा) रूपी वासुदेव में अर्जुनरूपी मन—दिव्यचक्षु के द्वारा विराट् विश्व को देखा जा सकता है। उसमें देव, दानव, दैत्य, यक्ष, राक्षस, पापी, पुण्यशाली ऋषि मुनि, मानव, नारक, तिर्यच आदि सभी हैं। इसी दृष्टि से जैनसूत्र ठाणांग में 'एगे आया' (एक आत्मा है) की बात कही गई है। वेदों में भी 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (सत् चैतन्य एक होते हुए भी विद्वान् उसे अनेक प्रकार से पुकारते हैं) कहा। सारांश यह कि अपने में रहा हुआ आत्मा और प्राणिमात्र में रहा हुआ आत्मा एक है। योगीश्वर आनन्दघनजी कहते हैं—

विचार की लहर सारे विश्वमहासागर के एक किनारे से दूसरे किनारे तक तीव्रता से पहुँच कर असर डालती है। हमारे शुभाशुभ विचारों की तरंगें हम यहाँ से हजारों कोस दूर बैठे हुए व्यक्ति तक पहुँचा सकते हैं। यह बात हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रों के अनेक उदाहरणों से सिद्ध है। आजकल के मैस्मेरिज्म और हिप्नोटिज्म वालों ने मानसिक विचारों के परस्परप्रभाव और आदानप्रदान को अनेक उदाहरणों से प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया है। उनका कहना है कि जगत् के किसी भी प्राणी पर हम यह अजमाना चाहें या हमारे विचार भेजना चाहें तो भेज सकते हैं, बशर्ते कि चित्त की पूरी एकाग्रता हो। चित्तैकाग्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर भेजे गये विचार उस व्यक्ति या प्राणी के हृदय को स्पर्श करते ही हैं। पहले उन विचारों का मन ही मन बारबार उच्चारण करने से उसकी तरंगें बनती हैं और वे विचार एक वायुमंडल तैयार करके, अपने सरीखे विचारों को एकत्रित करके उस व्यक्ति के पास पहुँच जाते हैं, जिसके पास प्रेषक व्यक्ति विचार भेजना चाहता है।

इस विश्व में दो प्रकार के प्रवाह दिखाई देते हैं। एक प्रवाह ऊपर से दिखाई देता है। दूसरा अस्पष्टरूप से। इन्हें हम व्यक्तचेतना और अव्यक्तचेतना कह सकते हैं। जैसे प्रकट जगत् के बाह्य प्रभावों को हम अपने स्थूल कान, आंख, मन, बुद्धि वगैरह साधनों से समझ सकते हैं, वैसे ही आन्तर (अव्यक्त) चेतना द्वारा अप्रकटजगत् में चलने वाले संदेशों या विचारों को हम ग्रहण कर सकते हैं और संदेश या विचार दे भी सकते हैं। चाहिए अन्तर का रेडियो बराबर व्यवस्थित, दुरस्त और ग्रहण करने योग्य। निसर्ग (कुदरत) के प्रति गहरी निष्ठा रखकर जीवन और जगत के सूक्ष्मप्रवाहों की ओर अपना अंतःकरण खुल्ला रखें तो सचमुच यह बात स्पष्ट समझ में आ सकती है। दार्शनिकों ने इसे प्रातिभज्ञान कहा है। जैनतत्त्वज्ञान ने इसका नाम 'अभिमह'

रखकर वैज्ञानिक दृष्टि से और प्रत्यक्ष परिणामों से यह सिद्ध किया है कि हम जो चिंतन करते हैं, उसका असर या उसका प्रतिबिम्ब जगत् में पड़े बिना नहीं रहता। इतना ही नहीं, कई बार कुदरत की दुनिया में हमने जिसका विचार किया हो, वह घटना तत्पमेव घटित हो जाती है। अथवा जो घटनाएँ बनने वाली होती हैं, उनकी जानकारी हमारे गहरे अन्तर में पड़ जाती है और हम महीनों पहिले से उस बात को जान लेते हैं या वे बातें सूझ जाती हैं।

साधकदशा में भगवान् महावीर ने नारीजाति को अधमदशा से मुक्ति दिलाने की भावना से एक ऐसी अबला के हाथ से भिक्षा लेने का अभिग्रह (संकल्प) किया था, जो राजकुमारी हो, फिर भी उसके हाथ में हथकड़ियाँ पड़ी हों, पैरों में बेड़ियाँ हों, मस्तक मुंडित हो, एक लंगोट लगाया हुआ हो, एक छाजले में उड़द के बाकले हों, भिक्षा देने की उत्कट भावना हो आँखों में आँसू हो लेकिन चेहरे पर प्रसन्नता हो। भ० महावीर के इस संकल्प का असर जगत् पर सीधा असर पड़ा और ५ महीने २५ दिन में उनका संकल्प पूर्ण हुआ। सारे समाज पर उनके विचारों का प्रभाव हुआ और नारीजाति की गुलामी दूर हुई।

महात्मा गांधीजी की इच्छा १०० वर्ष उपरांत जीने की थी, किन्तु जब उन्होंने त्याग और तपस्या के बदले धन और सत्ता का जोर चारों ओर देखा, कौमवाद के कारनामे देखे तो उन्होंने दुःखित होकर कहा था—"ईश्वर अब मुझे उठाले तो बड़ा अच्छा हो।" संयोगवश उनका विचार पूरा होने में गोडसे की तीन गोलियाँ निमित्त बनीं। बापू के पीछे सारा हिन्दुस्तान और जगत् रोया। कौमवाद भाग गया।

कुछ वर्षों पहिले विदेश में एक भाई की घटना बनी थी कि वह अपनी एक प्रेमिका का चिन्तन कर रहा था, किसी विशेष एंगल से फोटो लेने पर उसके साथ सामने बैठी हुई प्रेमिका का चित्र भी

आगया। इसी प्रकार एक स्त्री अपनी दो बिल्लियों का चिंतन कर रही थी, उसके चित्र के साथ भी दो बिल्लियों का चित्र आगया।

पुराणों में इस प्रकार की कई कथाएँ आती हैं कि अमुक तपस्वी ने तपस्या की इससे इन्द्रासन कम्पित हुआ।

हमारे शब्दों की ब्रह्माण्डव्यापकता तो रेडियो और वायरलेस ने सिद्ध कर दी है। जैनशास्त्र में शब्द चौदह राजूप्रमाण लोक के अन्त तक जाता है यह बताया है। टेलिविज़न ने तो हमारी बाह्य चेष्टाओं और चेहरे को भी हजारों मील तक भेजने का काम कर दिखाया है।

इस प्रकार जगत् में व्यक्तचेतना और अव्यक्तचेतना इन दोनों का एक दूसरे के साथ गहरा सम्बन्ध है। सूक्ष्मरूप से देखने पर इन दोनों में तादात्म्य दिखाई देती है, परन्तु स्थूलरूप से दोनों में विसंगतता अयामत्स्य और मिश्रण जैसी दिखाई देती है। हमारी अन्तश्चेतना में विसंगतता हो तो उसका प्रभाव बाह्यचेतना पर दृष्टिगोचर होता है इसी तरह बाह्यचेतना की विसंगतता की आन्तरिक चेतना पर प्रतिछाया पड़ती है जब इस प्रकार आन्तरिक और बाह्यचेतना में यानी व्यक्त और अव्यक्तचेतना में द्वन्द्व होता है, संघर्ष होता है और विसंगति होती है तो जगत् की व्यवस्था पर उसका असर पड़े बिना नहीं रहता। और जगत् की व्यवस्था जब भंग होती है तो जगत् में कलह संघर्ष, पाखण्ड दंभ, पाप और अधर्म जैसी अनिष्ट वस्तुएँ बढ़ जाती हैं शृङ्खलाबद्ध जगत् की शृङ्खलाएँ टूटने लगती है, मानवजगत् का असर अन्य प्राणिजगत् या प्रकृतिजगत् पर भी पड़े बिना नहीं रहता। जैनशास्त्रों में ६ आरों (कालचक्रों) का वर्णन है। उसमें पाँचवें और छठे आरे को क्रमशः दुषम और दुषमदुषम बताया गया है। यानी पाँचवें आरे और छठे आरे में जगत् की व्यवस्था दुषम और दुषमातिदुषम (अत्यधिक विषम) हो जाती है। जगत्

के अभाव प्राणियों में मानवों की स्थिति बड़ी विषम हो जाती है। मनुष्यों में धर्म-पुण्य की भावना क्षीण होकर क्रमशः नष्टप्राय हो जाती है। उसका प्रभाव प्रकृतिजगत् और प्राणिजगत् पर भी पड़े बिना रहता। भूमि अत्यन्त कम रसकसवाली, कम फलद्रुप तथा क्रमशः नीरसजी हो जाती है। वनस्पति, फल, फूल बिलकुल सूख जाते हैं। पानी बहुत कम व गंदा हो जाता है। मनुष्यों की जीवनशक्ति कम होने लगती है। मतलब यह कि पृथ्वी पानी हवा, अग्नि और वनस्पति पर भी उस विषम स्थिति का पूरा असर पड़ता है।

सम्यक्दृष्टि का कर्त्तव्य

इस अनादिअनन्त संसार में अच्छी और बुरी सभी तरह की वस्तुएँ रहने वाली हैं। जगत् का यह नियम है कि इसमें श्रेष्ठ और निकृष्ट मानव, अन्यप्राणी या वस्तु रहनेवाली हैं, सद्गुण और दुर्गुण दोनों मौजूद रहने वाले हैं, सज्जन और दुर्जन दोनों प्रकार के प्राणियों अस्तित्व रहने वाला है। परन्तु सम्यक्दृष्टिवाला साधक इन दोनों को यथायोग्य स्थान पर व्यवस्थित कर देता है। जहां जिसका स्थान है, वहां उसे व्यवस्थित कर देने से जगत् का संतुलन बना रहता है। किन्तु जब अधर्मादि तत्त्व बढ़ जाते हैं या उनका जोर ज्यादा हो जाता है तो जगत् का संतुलन बिगड़ जाता है। सम्यक्दृष्टि पुरुष इस बात को भलीभांति समझता है और खराब से खराब वस्तु में से भी अच्छी प्रेरणा, अच्छा संदेश ग्रहण कर लेता है।

गीताकार ने 'द्यूतं छलयतामस्मि' कह कर दुर्गुणों को भी भगवद्विभूति में गिनाया है। इसका आशय यह है कि खराब से खराब वस्तु में भी अच्छी प्रेरणा ली जाय तो उसका खराब अंश नहीं टिक सकता। दम्भ, असत्य वगैरह तभी टिक सकते हैं, जबकि इन्हें प्रत्यक्ष या परोक्ष सहारा या समर्थन मिलता है। मनुष्य जो आहार लेता है,

वह स्वच्छ और सुन्दर होता है, परन्तु पेट में जाने के बाद वही आहार मलमूत्र के रूप में बदल जाता है। उलटी हो जाय तो वही खराब से खराब पदार्थ समझा जाता है परन्तु वही पदार्थ या मल मूत्र कई प्राणियों के लिये सरस आहार बन जाता है, धरती के लिये सुन्दर खाद बन जाता है और पुनः इसमें से सुन्दर अनाज फल आदि तैयार हो जाते हैं। इस तरह एक ही वस्तु में मङ्गलकारी और अमङ्गलकारी दोनों तत्त्व नजर आते हैं। सुवेल की एक बाजू बेडौल और बदसूरत लगती है जबकि दूसरी बाजू मनोहर लगती है। इस पृथ्वी पर जहर भी है और अमृत भी है। जो वस्तु एक के लिये अच्छी और पथ्य लगती है, वही वस्तु दूसरे के लिए कुपथ्य और खराब लगती है। आक के पत्ते या नीम के पत्ते मनुष्य के लिये अरुचिकर लगते हैं, वही बकरी, ऊँट आदि जानवरों के लिये रुचिकर और पथ्यकारक लगते हैं। इसलिये जगत् में कोई भी वस्तु खराब या अच्छी नहीं है। विष मनुष्य के लिये मारक वस्तु है किन्तु विषवैद्य द्वारा उसी विष के द्वारा संखियाभस्म या रसायन बनाये जाने पर वही विष अमुक रोगी के लिये तारक बन जाता है। खीर का भोजन अच्छा है परन्तु छक कर भोजन खाने के बाद या अजीर्ण होने पर या बीमार आदमी को खिलाये जाने पर वही अच्छा भोजन उसके लिये खराब हो जाता है। मतलब यह कि जगत् में अच्छा और बुरा दोनों सापेक्ष हैं। जगत् की सभी वस्तुओं या भावों का स्वरूप मूल में एक ही प्रकार का होता है, किन्तु उन्हें यथायोग्य स्थान पर जोड़ने से उनका स्वभाव बदल जाता है या वह अच्छी या बुरी लगने लगती है। जिस वस्तु से हम घृणा करते हैं, उसी वस्तु से हम आकर्षित हो सकते हैं, बशर्ते कि हमारी दृष्टि पवित्र हो जाय। जैनशास्त्र नन्दीसूत्र में मिथ्याश्रुतों का वर्णन करने के बाद अन्त में निर्णय दिया है:—

"'एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहेण सम्मसुयं' -

अर्थात्–पूर्वोक्त शास्त्र, जिन्हें हम मिथ्याश्रुत में गिना आए हैं वे सम्यक्‌दृष्टि के लिए सम्यक्‌रूप से ग्रहण किये जाने के कारण सम्यक्‌श्रुत हो जाते हैं।

यह है दृष्टि का चमत्कार! यह है सम्यक्‌दृष्टि का जादू!

सम्यक्‌दृष्टि की वह दृष्टि है जिसमें बुरी से बुरी चीज में से अच्छाई ग्रहण करने की शक्ति होती है। उसमें हम विश्व में से अच्छी प्रेरणा लेने की क्षमता और सभी चीजों को यथायोग्य व्यवस्थित करने की कला होती है। इसी प्रकार जगत् की तमाम अच्छी–बुरी वस्तुओं, अच्छे बुरे प्रतीत होने वाले प्राणियों व मानवों, सद्गुण–दुर्गुणों की भलीभांति व्यवस्थिति और योजना करने वाला हो तो सारा संसार जो आज विसगत, अव्यवस्थित या बेसुरा लगता है, वह व्यवस्थित, सगत और सुरीला दिखाई देने लगे। यही कारण है कि महापुरुषों ने एक श्लोक में इसका रहस्य बता दिया है—

अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम् ।
अयोग्य पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभ ।

अर्थात्–इस जगत् में कोई भी अक्षर ऐसा नहीं है जो मन्त्र न हो सके, कोई भी वनस्पति ऐसी नहीं है, जो औषध न हो कोई पुरुष अयोग्य नहीं है। सिर्फ इन सबकी व्यवस्थित योजना करने वाला, इन्हें यथायोग्य स्थान पर जोड़ने वाला ही दुर्लभ है।

समस्त प्राणियों में मनुष्य पर यह बात सबसे अधिक लागू पड़ती है। क्योंकि दूसरे प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य की विचारशक्ति, कार्यशक्ति और दृष्टि अधिक विकसित होती है। इसलिये मानवजाति अगर यह बात समझ जाय तो सारा संसार व्यवस्थित रहे और जगत् में सुखशान्ति रहे। मानव–जाति को समझाने और व्यवस्थित रखने की सबसे अधिक जिम्मेदारी सम्यक्‌दृष्टि की है। सम्यक्‌दृष्टि सारे विश्व का संतुलन

रख कर मानव के साथ विश्व का अनुबन्ध रखे तो विश्व में अशान्ति रहो नहीं रह सकती। वैदिक-ग्रन्थ सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। मतलब यह है कि सत्त्व, रज और तम इनमें रज और तम दोनों निकृष्ट कोटि के गुण सत्त्व पर विजय न प्राप्त करलें, ये बराबर सतुलित रहें, इसी को संसार की सम्यता कहते हैं और सम्यक्‌दृष्टि साधक को यही साधना करनी है। जगत्‌ में अनेक प्रकार की वृत्तियाँ पड़ी हैं। मुख्यत. तो दो वृत्तियाँ हैं, आसुरी और दैवी। इन दोनों को यथायोग्य स्थान पर व्यवस्थित करके जगत्‌ के लिए उपयोगी बना देना, यही साधना है, इसके बाद कुछ साधना नहीं रह जाता।

भगवान् श्रीकृष्ण मरी हुई, सड़ती और दुर्गन्ध मारती हुई कुतिया को सड़क के किनारे पड़ी देख कर घृणा नहीं करते अपितु यही कहते हैं 'इस कुतिया के दांत कितने सुंदर हैं मोती जैसे चमक रहे हैं।'

धर्मराज युधिष्ठिर को नगर में से दुर्जनों का नाम लिख लाने और दुर्योधन को सज्जनों का नाम लिख लाने को भेजा जाता है, किन्तु युधिष्ठिर को नगर में कोई भी दुर्जन नहीं मिलता, जबकि दुर्योधन को कोई भी सज्जन पुरुष नहीं मिलता। ऐसा नहीं था कि शहर में कोई दुर्जन या सज्जन थे ही नहीं। थे सही, मगर दोनों की दृष्टि में भिन्नता थी। एक की दृष्टि बुरे से बुरे मानव में से अच्छाई ग्रहण कर लेने की थी, जबकि दूसरे की दृष्टि अच्छे से अच्छे मानव में से बुराई ग्रहण करने की थी। सम्यक्‌दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का सच्चा रहस्य यही है। सम्यक्‌दृष्टि में इस विश्व में से अच्छे संदेश और प्रेरणा लेने की कला और क्षमता है। जबकी मिथ्यादृष्टि में यह बात नहीं। उसके लिए अच्छे से अच्छे प्रेरणादायक सम्यक्‌शास्त्र भी मिथ्याशास्त्र हो हैं। 'राम' शब्द में से 'रा-म ऐसा सीधा अर्थ भी निकाला जा-सकता है और म रा, ऐसा उलटा अर्थ भी।

शक्ति को इकट्ठी करना जैसे जरूरी है, वैसे एकत्रित शक्ति को समुचित मार्ग से बहाना यानी योग्य मार्ग में लगाना भी जरूरी है। पानी तथा अग्नि एकत्रित करने पर जैसे जगत् के लिये पोषक और उपकारक है, वैसे ही ये दोनों जगत् के मारक भी हैं, डुबाने और जलाने वाले भी हैं। पानी और अग्नि की शक्ति को समुचित मार्ग में लगाने और सतुलित रखने की कला मानव में न हो तो जगत् के नष्टभ्रष्ट होते देर न लगे। क्योंकि प्राणिमात्र में मानव सर्वोत्तम प्राणी है। उसकी महत्ता अधिक होने से उस पर विश्व की समतुला (सतुलन) सुरक्षित रखने की जिम्मेवारी अधिक है। सम्यक्दृष्टि मानवों ने अपनी शक्तियाँ विश्व की समतुला सुरक्षित रखने में लगाई हैं। समतुला कायम रखने का मानव-पुरुषार्थ रुक जाय तो शीघ्र ही विश्व में छिन्न भिन्नता आ जाय। इसीलिए मानवपुरुषार्थ का स्थान पहला और ईश्वर कृपा का स्थान बाद में रखा प्रतीत होता है।

रावण ने अपना मस्तक काट कर समर्पण किया और शिव शिष्य बन कर महान् शक्ति इकट्ठी तो करली किन्तु उस शक्ति का समुचितमार्ग में सदुपयोग न हुआ। इसी कारण विश्व के सिर पर राम-रावणयुद्ध आ पड़ा। आज भी लोगों की जबान पर यह बात चढ़ी हुई है "बनिये के न होने से रावण ने राज्य (सर्वस्व) खोया"। सच्चा बनिया-यानी समुचित विनिमय और सन्तुलन बनाए रखने वाला साधक तराजू के दोनों पल्डों को बराबर रखने वाला न्यायमूर्ति।

वर्तमान काल में इस प्रकार का बनियापन बताया-मोहनदास करमचन्द गांधी ने। लोगों ने उन्हें बापू और महात्मा का पद दिया, परन्तु वे किसी एक कुटुम्ब के पिता नहीं; सारे विश्व के पिता-समान बने थे, साथ ही वे महात्मा भी हिमालयवासी न थे, अपितु ससार की समतुला कायम रखने वाले महात्मा थे। उन्होंने ब्रिटेन के खिलाफ भारत की ओर से जिहाद जगाया था वह किसलिए?

इसीलिए कि इन समतुलाकार ने देखा भारत के पास अपनी उच्च संस्कृति और आध्यात्मिकता की महान् शक्ति पड़ी है, किन्तु है वह बिखरी हुई। उसे एकत्रित करके ठीक उपयोग किया जाय तो विश्व की व्यवस्था सन्तुलित रखी जा सकती है। भारतीय संस्कृति के सामने विश्व की जनता एकटक आशा लगाए बैठी है, परन्तु ब्रिटेन ने अपनी सत्तारूपी एड़ी के नीचे उसे कुचल रखा है। इसलिए एक तरफ उन्होंने ब्रिटेन के सामने अहिंसक विद्रोह किया, दूसरी ओर भारत की अहिंसक प्रतीकारात्मक शक्ति जागृत की। मतलब यह कि विश्वसमतुलाकार महात्मागांधीजी जगत् की समतुला कायम रखने के लिए सतत पुरुषार्थ करते रहे।

भगवान् महावीर और भ० बुद्ध दोनों महापुरुषों ने अपना राजपाट क्यों छोड़ा था? और राजपाट छोड़कर भी वे एकान्त वनवासी क्यों न बने? समाज के बीच रहकर उन्होंने क्यों और क्या साधना की? गहराई से इन दोनों के जीवन का निरीक्षण करने पर मालूम पड़ेगा कि विश्व को समतुला रखे बिना विश्व के साथ मैत्री हो नहीं सकती थी, विश्वबन्धुत्व की साधना अपूर्ण रहती। इसी दृष्टिकोण को लेकर वे वनवासी नहीं, जनवासी बने और जन-जन के जीवन को टटोला विश्व के प्रश्नों को धर्मदृष्टि से हल किया, विश्व को समतुला पर लाने का सतत प्रयत्न किया। राजा बने रहते तो अपने राज्य से बाहरवाले तो इन्हें पराये ही समझते पर पराए रह कर विश्व को समतुला कायम नहीं रखी जा सकती थी योग्य अनुबन्ध नहीं किया जा सकता था, इसलिए वे समस्त विश्व के बने। इन्हें कहीं कोई पराये नहीं लगे। इन्होंने अन्तर्निरीक्षण किया तो क्रोधादि विकार इन्हें दुश्मन जैसे लगे अवश्य, पर उन्हें भी इन्होंने रूपान्तर कर दिया, यथायोग्य स्थान पर लगा दिया, इसलिए वे भी दुश्मन न रहे। वह महत्त्वपूर्ण कार्य सदा के लिए चालू न रहे तो जगत् अव्यवस्थित, विषमता या

बेसुरा ही प्रतीत हो । इसलिए ज्ञानीपुरुष कहते हैं —जो जो वस्तु जहाँ जहाँ योग्य है उसे वहाँ वहाँ जोड़ देना, लगा देना यही सम्यक्-दृष्टि पुरुषों का सनातनधर्म है, कर्तव्य है ।

क्षायिक सम्यक्दृष्टि पुरुषों को आत्मसाक्षात्कार होने के कारण जगत्सम्बन्धी कोई वस्तु प्राप्त करने जैसी उनके लिए नहीं रहती, फिर भी अप्रमत्तरूपसे कर्त्तव्याचरण करते जाना उनके लिए भी जरूरी होता है । क्योंकि महापुरुष अपने द्वारा दूसरों के होने वाले सहजकल्याण से विमुख होजाँय और आत्मा के लिए अबाधक सत्क्रिया, शुभ प्रवृत्ति न करें तो जगत की अव्यवस्था बढ़े, जगत् का अनुबन्ध बिगड़े । और अव्यवस्था बढ़ने या अनुबन्ध बिगड़ने से अहिंसा विश्ववात्सल्य या विश्वप्रेम के सिद्धान्त के प्रति लोकश्रद्धा डिग जाय, ये सिद्धान्त भी भग्न हों और जगत में अशान्ति बढ़े । क्योंकि प्रजाकीय संस्कृति की हिंसा दूसरी स्थूलहिंसाओं की अपेक्षा बड़ी है । प्रजा के स्थूलदेह का निर्माण करने वाले तो अनेक निकलेंगे किन्तु प्रजा की संस्कृति के निर्माता तो उंगली पर गिने जासकें इतने और वे भी दीर्घकाल के बाद अनेक क्षेत्रों के पार हो जाने के बाद निकलेंगे । इसलिए साधक के लिए जगत् की समतुला टिकाए रखना अनुबन्ध सुरक्षित रखना दूसरे कार्यों की अपेक्षा अत्यधिक महत्त्व-पूर्ण कार्य है ।

भगवान् महावीर ने जागतिक सुव्यवस्था सुरक्षित रहे, जगत् के समस्त जीवों की रक्षा हो, इसके लिए संघ (समाज) स्थापना की थी । ताकि, उनके संघ में उस जागतिक व्यवस्था को सुरक्षित रखने की परम्परा सतत चालू रह सके, जगत् में अव्यवस्था पैदा न हो । भगवान् महावीर ने अपने सुपुत्रों (श्रमणों) को यह आदेश दिया है कि तुम ६ काया (विश्व) के प्रतिपालक हो रक्षक हो, धर्मोपदेशक हो, माता–पिता हो, तुम पर यह जिम्मेदारी है कि जहाँ जिस धर्म्य वस्तु

की त्रुटि हो, कमी हो, वहाँ अपने श्रमणधर्म की मर्यादा में रहते हुए ध्येयानुलक्षी रह कर उस वस्तु की पूर्ति समाज राष्ट्र या विश्व में करो। इस प्रकार मानवसमाज की सुव्यवस्था करना, समतुला रखना ही तुम्हारी दीक्षा के समय उच्चारण की हुई सामायिक की प्रतिज्ञा के अनुरूप है। जब समाज में अनीति के तत्त्व बढ़ जाएँ, नीतितत्त्व कम हो जाएँ, उस समय नीतितत्त्वों की पूर्ति करना सामायिकव्रती साधक का कर्त्तव्य है।

अनुबन्ध-विचारधारा

प्रश्न होता है, आज के युग में जिसमें जीवन और जगत् से सम्बन्धित सभी वस्तुओं का समाविष्ट हो सके विश्व की समतुला व व्यवस्था को यथायोग्य रख सकें, और बिगड़े हुए सम्बन्धों को ठीक कर सकें, जोड़ सकें, टूटे हुए सम्बन्धों को बांध सकें, ऐसे भाव को प्रगट करने वाला कौन-सा शब्द है! क्या ऐसे शब्द के माध्यम से आज के युग में साधुसाध्वी अपनी जिम्मेवारी को पूर्णतया निभा सकते हैं?

जहाँ तक समस्त धर्मों का प्रश्न है समस्त धर्मों की दृष्टि से सोचा जाय तो ऐसा एक शब्द है—'अनुबन्ध'। इसमें मानवजीवन एवं प्राणि-जीवन से सम्बद्ध सभी वस्तुओं को यथायोग्य व्यवस्थित करने, जगत् की समतुला कायम रखने और और बिगड़े एवं टूटे हुए सम्बन्धों को ठीक करने एवं जोड़ने की क्षमता है। सभी धर्मों के महापुरुषों ने अपनी जिम्मेदारी इस प्रकार के या इस या ऐसे शब्द के माध्यम से पूरी की है। पू० मुनिश्री सन्तबालजी, जिनका विश्वधर्मों का काफी अध्ययन है तथा विश्व की व्यवस्था को सन्तुलित रखने के लिए जो धर्मदृष्टि से समाजरचना का प्रयोग वर्षों से कर रहे हैं, वे अनुबन्धशब्द का अनेक बार प्रयोग करते हैं और उनका विश्वास है कि आज के साधुसाध्वी अगर इस अनुबन्धविचारधारा को ठीक

तरह से समझलें, समाजनिर्माणकार्य में लगे हुए रचनात्मककार्यकर्ता एवं शासनकर्तावर्ग इस विचारधारा को समझकर विश्व की समतुला कायम रखने में यथायोग्य सहयोग दें तो आज की विश्वरचना और विश्वव्यवस्था ठीक हो सकती है।

अनुबन्धशब्द की व्याख्या उनकी दृष्टि से यह है कि आत्मानुकूल जो सम्बन्ध है, वह अनुबन्ध है (आत्माऽनुकूलो ध्येयानुकूलो वा य सम्बन्धः सोऽनुबन्धः) इसी प्रकार बिगड़े हुए विश्व (व्यक्ति, समाज और समष्टि) के प्रबन्ध जिसके द्वारा सुधरे हुए (प्रबन्ध) किये जा सकें, उसे भी अनुबन्ध कहते हैं। अव्यवस्थिता विश्वप्रबन्धा (प्रबन्धा) व्यवस्थानुकूला क्रियन्ते येनाऽसौ अनुबन्धः)। अर्थात् व्यक्ति, समाज और समष्टिरूप विश्व के शुभबलों को व्यवस्थित करना, शुभगुणों को प्रतिष्ठित करना, एकत्रित करना, तथा जहाँ अशुभबल प्रतिष्ठित हो गये हैं उनका जोर हटा कर शुभबलों को प्रतिष्ठित करना, इसीका नाम अनुबन्ध है। क्योंकि व्यक्त और अव्यक्तरूप से सारा संसार एक है, एक का असर दूसरे पर पड़ता है। इसलिए जगत् में जब शुभबलों, शुभगुणों का अनुबन्ध होने से जोर अधिक हो जायगा, धर्मदृष्टि से सभी क्षेत्रों में कार्य होने लगेगा, और सारा संसार आध्यात्मिक बुनियाद पर चलने लगेगा तो विश्व की समतुला बराबर कायम रहेगी। विश्व के अशुभबल शुभबलों के आधिक्य के कारण दब जायेंगे या उनका प्रभाव क्षीण हो जायगा तो स्वतः ही विश्व की व्यवस्था कायम हो सकेगी। पर इस प्रकार का कार्य अनुबन्धविचारधारा को सांगोपांग समझ लेने पर ही हो सकेगा।

'अनुबन्ध'-शब्द-प्रयोग कहाँ और किस अर्थ में ?

गीता के अठारहवें अध्याय में सात्विक, राजस और तामस कर्म की व्याख्या करते हुए 'अनुबन्ध' शब्द का प्रयोग किया गया है। वहाँ का श्लोक इस प्रकार है—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥

गीता १८ अ० श्लो० २५

अर्थात्–'जहाँ अनुबन्ध क्षय, हिंसा और पौरुष का विचार किये बिना (अयत् या मन्मनत् होकर) मोहवश किसी कर्म (पुरुषार्थ) का आरम्भ किया जाता है, वहाँ उस कर्म (पुरुषार्थ) को तामस कहा है ।

यहाँ अनुबन्ध का अर्थ बहुत करके परिणाम से है, या पूर्वापर सम्बन्ध से है या व्यापकदृष्टि से अर्थ किया जाए तो ध्येयानुकूल सम्बन्ध से है, जो पूर्वोक्त अनुबन्धशब्द के एक अर्थ से मिलता है । और अनुबन्ध का बराबर विचार किये बिना सिर्फ पुरुषार्थ करने में अनर्थ रहा हुआ है जिस पुरुषार्थ से अनुबन्ध न जुड़ता हो या जो पुरुषार्थ अनुबन्ध के अनुकूल न हो, वह पुरुषार्थ निरर्थक और तामस है ऐसा यहाँ जोर से प्रतिपादन किया गया है ।

विश्ववन्द्य राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी ने नई तालीम में अनुबन्ध शब्द का प्रयोग करके कहा है कि मेरी शिक्षणपद्धति जीवन के प्रत्येक अंग के साथ जुड़ी हुई है । जीवन के प्रत्येक अंग के साथ शिक्षण को जोड़ने के लिए यहाँ अनुबन्धशब्द का प्रयोग किया गया है । मतलब यह कि मानवजीवन के प्रत्येक अंग का अनुबन्धप्रणाली द्वारा शिक्षण देना नई तालीम है । महात्मा गांधीजी ने एक जगह इसका विश्लेषण करते हुए कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर का तार जगत् के साथ जुड़ा हुआ है । एक जगह के एक व्यक्ति की घटना का असर दूसरी जगह के दूसरे व्यक्ति पर पड़े बिना नहीं रहता । इसलिये हमारी शिक्षाप्रणाली अनुबन्धयुक्त होनी चाहिए, जिससे हम सारे जगत् के साथ मीठा सम्बन्ध कर्तव्यसम्बन्ध बांध सकें । बापूजी के

तरह से समझलें, समाजनिर्माणकार्य में लगे हुए रचनात्मककार्यकर्ता एवं शासनकर्तावर्ग इस विचारधारा को समझकर विश्व की समतुला कायम रखने में यथायोग्य सहयोग दें तो आज की विश्वरचना और विश्वव्यवस्था ठीक हो सकती है।

अनुबन्धशब्द की व्याख्या उनकी दृष्टि से यह है कि आत्मानुकूल जो सम्बन्ध है वह अनुबन्ध है (आत्माऽनुकूलो ध्येयानुकूलो वा य सम्बन्धः सोऽनुबन्धः) इसी प्रकार बिगड़े हुए विश्व (व्यक्ति, समाज और समष्टि) के प्रबन्ध जिसके द्वारा सुधरे हुए (प्रबन्ध) किये जा सकें, उसे भी अनुबन्ध कहते हैं। अव्यवस्थिता विश्वबन्धा (प्रबन्धा) व्यवस्थानुकूला क्रियन्ते येनाऽसौ अनुबन्ध)। अर्थात् व्यक्ति, समाज और समष्टिरूप विश्व के शुभबलों को व्यवस्थित करना, शुभगुणों को प्रतिष्ठित करना, एकत्रित करना, तथा जहाँ अशुभबल प्रतिष्ठित हो गये हैं उनको वहाँ से हटा कर शुभबलों को प्रतिष्ठित करना, इसीका नाम अनुबन्ध है। क्योंकि स्थूल और अदृश्यरूप से सारा संसार एक है, एक का असर दूसरे पर पड़ता है। इसलिए जगत् में जब शुभबलों, शुभगुणों का अनुबन्ध होने से जोर अधिक हो जायगा, धर्मदृष्टि से सभी क्षेत्रों में कार्य होने लगेगा, और सारा संसार आध्यात्मिक बुनियाद पर चलने लगेगा तो विश्व की समतुला बराबर कायम रहेगी। विश्व के अशुभबल शुभबलों के आधिक्य के कारण दब जायेंगे या उनका प्रभाव क्षीण हो जायगा तो स्वतः ही विश्व की व्यवस्था कायम हो सकेगी। पर इस प्रकार का कार्य अनुबन्धविचारधारा को सांगोपांग समझ लेने पर ही हो सकेगा।

'अनुबन्ध'-शब्द-प्रयोग कहाँ और किस अर्थ में ?

गीता के अठारहवें अध्याय में सात्त्विक, राजस और तामस कर्म की व्याख्या करते हुए 'अनुबन्ध' शब्द का प्रयोग किया गया है। वहाँ का श्लोक इस प्रकार है—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥

गीता १८ अ० श्लो० २५

अर्थात्–'जहाँ अनुबन्ध क्षय, हिंसा और पौरुष का विचार किये बिना (अन्धवत् या मत्तवत् होकर) मोहवश किसी कर्म (पुरुषार्थ) का आरम्भ किया जाता है, वहाँ उस कर्म (पुरुषार्थ) को तामस कहा है।

यहाँ अनुबन्ध का अर्थ बहुत करके परिणाम से है या पूर्वापर सम्बन्ध से है या व्यापकदृष्टि से अर्थ किया जाए तो ध्येयानुकूल सम्बन्ध से है, जो पूर्वोक्त अनुबन्धशब्द के एक अर्थ से मिलता है। और अनुबन्ध का बराबर विचार किये बिना सिर्फ पुरुषार्थ करने में अनर्थ रहा हुआ है जिस पुरुषार्थ से अनुबन्ध न जुड़ता हो या जो पुरुषार्थ अनुबन्ध के अनुकूल न हो वह पुरुषार्थ निरर्थक और तामस है ऐसा यहाँ जोर से प्रतिपादन किया गया है।

विश्ववन्द्य राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी ने नई तालीम में अनुबन्ध शब्द का प्रयोग करके कहा है कि मेरी शिक्षणपद्धति जीवन के प्रत्येक अंग के साथ जुड़ी हुई है। जीवन के प्रत्येक अंग के साथ शिक्षण को जोड़ने के लिए यहाँ अनुबन्धशब्द का प्रयोग किया गया है। मतलब यह कि मानवजीवन के प्रत्येक अंग का अनुबन्धप्रणाली द्वारा शिक्षण देना नई तालीम है। महात्मा गांधीजी ने एक जगह दूसरा विश्लेषण करते हुए कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर का तार जगत् के साथ जुड़ा हुआ है। एक जगह के एक व्यक्ति की घटना का असर दूसरी जगह के दूसरे व्यक्ति पर पड़े बिना नहीं रहता। इसलिये हमारी शिक्षाप्रणाली अनुबन्धयुक्त होनी चाहिए, जिससे हम सारे जगत् के साथ मीठा सम्बन्ध कर्तव्यसम्बन्ध जोड़ सकें। बापूजी के

द्वारा किया गया 'अनुबन्ध-शब्दप्रयोग भी पूर्वोक्त अनुबन्ध के एक अर्थ को सूचित करता है।

वैयाकरण लोगों ने व्याकरणशास्त्र के प्रारम्भ में चार अनुबन्ध बता कर ग्रन्थ को आगे चलाया है। वहाँ अनुबन्ध का अर्थ किया है-'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्' जिस ज्ञान का विषय इष्ट प्रवृत्ति का प्रयोजक यानी इष्ट प्रवृत्ति से सम्बन्धित हो, प्रेरणा देने वाला हो वह अनुबन्ध कहलाता है। शास्त्र की शुरूआत करते समय अनुबन्ध का विचार करना वहाँ आवश्यक माना गया है। अनुबन्ध के ४ प्रकार बताए गए हैं-(१) विषय (२) प्रयोजन (३) अधिकारी और (४) सम्बन्ध। अर्थात् किसी भी प्रवृत्ति के करने से पहले उस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भलीभांति विचार करना चाहिये कि इसका विषय क्या है? फिर इसका प्रयोजन (उद्देश्य) क्या है? इसका अधिकारी कौन है? और इस प्रवृत्ति के साथ हमारा या दूसरों का साक्षात् या परम्परा से सम्बन्ध क्या है?

उपर्युक्त अनुबन्धचतुष्टय का विचार शास्त्र या ग्रन्थ में प्रवेश करने से पहले करने के लिए कहा गया है। परन्तु यदि हम व्यापक दृष्टि से जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति के विषय में अनुबन्धचतुष्टय का विचार करें तो पूर्वोक्त अनुबन्ध के एक अर्थ के साथ इसकी संगति हो सकती है। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति के पहले उसके विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध का स्व-पर के सम्बन्ध में विचार करें तो समाज, राष्ट्र और विश्व की अव्यवस्था दूर हो सकती है; सुव्यवस्था स्थापित हो सकती है।

किन्तु यहाँ जो अनुबन्ध शब्द है वह किसी भी प्रवृत्ति के बारे में चार बातों का विचार करने की बात कहता है, यह कार्यसूचक नहीं है। और खासकर शास्त्रप्रवृत्ति के बारे में ही यह बात लागू होती है।

सम्बन्ध और अनुबन्ध में तात्विक अन्तर

अनुबन्ध में भी सम्बन्ध जोड़ने की बात आती है, तब सवाल यह होता है कि सम्बन्ध शब्द से ही काम चल जाय तो अनुबन्ध शब्द क्यों रखा जाय ?

बात यह है कि सम्बन्धशब्द इष्ट या अनिष्ट, कर्तव्य या मोह, स्वार्थ या परमार्थ, सभी प्रकार के सम्बन्धों को सूचित करता है जब कि अनुबन्धशब्द से इष्ट ध्येयानुकूल, कर्तव्य एवं वात्सल्य से प्रेरित परमार्थसम्बन्ध ही द्योतित होता है। क्योंकि अनुबन्धशब्द के व्युत्पत्त्यर्थ के द्वारा हम यह सिद्ध कर आए हैं कि अनुबन्ध ध्येयानुकूल सम्बन्ध को ही कहते हैं। सम्बन्ध से प्रायः शारीरिक सम्बन्ध या रक्तसम्बन्ध ही प्रायः प्रगट होता है जबकि अनुबन्ध से कर्तव्यसम्बन्ध या वात्सल्यमय सम्बन्ध लिया जाता है। यद्यपि रक्तसम्बन्धियों या शारीरिक सम्बन्धियों के साथ भी जो सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध में रहे हुए मलिनतत्वों को दूर करके निःस्वार्थ और निर्दोष बनाने पर वह सम्बन्ध पवित्र हो जाता है। मीठा हो जाता है और वह सम्बन्ध ही कहलाता है किन्तु हम उसे अनुबन्ध कहते हैं जो सम्बन्ध आज कटु बने हुए हैं, मालिन्यभरे बने हुए हैं उन्हें सुधार कर उनकी जगह कर्तव्य या वात्सल्यमय मीठे सम्बन्ध स्थापित करना ही तो अनुबन्ध कहलाता है।

कई बार नजदीक के सम्बन्धियों—सम्प्रदाय, जाति आदि का भला करने या ऋण उतारने की दृष्टि से मनुष्य मोह और आसक्ति के गाढ संस्कारों से प्रेरित होकर कार्य करता है, इस कारण वे सम्बन्ध कर्तव्य-सम्बन्ध नहीं, मोहसम्बन्ध बनते हैं। फलतः दोनों ओर परस्पर मोह बढ़ाने में ही वह सम्बन्ध मददगार बनता है और कर्तव्यसम्बन्ध में विघ्नकारक होता है। दोनों ओर के सम्बन्धियों का परस्पर विकास कर्तव्यबन्ध से ही होसकता है और वह मोह या ममता

भले स्वरूपमोह के रूप में हो या कामयोह के रूपमें लेकिन दोनों की गति धीमी पड़ने पर ही मोहसम्बन्ध छूट सकता है।

कर्त्तव्यसंबन्ध से ऊँचा सम्बन्ध विचारसम्बन्ध है विचारसम्बन्ध समविचारक और व्यापकदृष्टिवाले विचारकों का होता है। विचार सम्बन्धों वाले मनुष्य परस्पर गुणों की वृद्धि, चित्तशुद्धि और दोषों का नाश करने का प्रयत्न करते हैं।

उपर्युक्त तीनों सम्बन्धों की अपेक्षा धर्मसम्बन्ध सबसे ऊँचा सम्बन्ध है। धर्मसम्बन्ध में आत्मदृष्टि से विचार करना होता है। जिसे हम वात्सल्यसम्बन्ध के नाम से भी पुकार सकते हैं। इसी सम्बन्ध को हम 'अनुबन्ध' कहते हैं। जिस व्यक्ति के जीवन में धर्मसम्बन्ध दृढ़तापूर्वक ओतप्रोत होगया उसे चोर, पापी, बाघ, चीते, साँप आदि सब अपने आत्मीयजन दिखाई देते हैं। ऐसे पुरुष अपने चरित्र-रूपी पारस से पापी को भी पुण्यवान बना सकते हैं। जहरीले जानवरों के जहर को भी प्रेमामृत में बदल सकते हैं।

धर्मसम्बन्ध (अनुबन्ध) के कारण ही महात्मा एकनाथ ने चोर को अपने पास बची हुई अगूठी दे डाली और उसे अपने पावन आचरण से चोर से साहूकार बना दिया था। भगवान् महावीर ने चण्डकौशिक जैसे विषधर सर्प को वात्सल्यसम्बन्ध द्वारा ही उसके जहर के बदले उसे प्रेमामृत देकर बदल दिया था।

इससे फलितार्थ होता है कि सम्बन्ध मुख्यतः शारीरिक दृष्टि से होता है, जबकि अनुबन्ध (कर्त्तव्यसम्बन्ध विचारसम्बन्ध और धर्मसम्बन्ध) आत्मिक दृष्टि से होता है। वाली के वध में श्रीराम-चन्द्रजी ने मोहसम्बन्ध की दृष्टि से नहीं कर्त्तव्यसम्बन्ध की दृष्टि से कार्य किया। क्योंकि श्रीराम ने सदाचार का जगत् में सामाजिक मूल्य स्वीकार कराने के लिये वालीवध किया था। उसमें स्थूलहिंसा अवश्य थी किन्तु अन्तर में वाली के प्रति व्यक्तिगत तो अथाह प्रेम

ता। नहीं तो, मरते समय बाली श्रीरामचरणों में अपने पुत्र को समर्पित करके सुखपूर्वक नहीं मरता। कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने उद्दण्डता के खिलाफ न्याय का सामाजिक मूल्य समाज से स्वीकार कराने के लिये कर्त्तव्यदृष्टि से महाभारत की सलाह पाण्डवों को दी और महाभारत होने दिया, किन्तु दुर्योधन के प्रति व्यक्तिगत द्वेष जरासा भी न रखा और न महाभारत में स्वयं शस्त्र उठाया। इतना ही नहीं, बल्कि अर्जुनादि पाँचों पाण्डवों में से व्यक्तिगत द्वेष निकलवा देने के बाद ही महाभारत होने दिया। महात्मा गांधीजी का अंग्रेजों के साथ के साथ प्रेम का सम्बन्ध रहा, किन्तु उस सम्बन्ध में उन्होंने मोह को न आने दिया, कर्त्तव्य के नाते बोअरयुद्ध के समय स्वयं सहयोग दिया, किन्तु अंग्रेजों की अनीति और शोषण तथा भारत को गुलाम बनाये रखने की कूटनीति के खिलाफ उन्होंने अहिंसक लड़ाई भी छेड़ी। परन्तु स्वयं न तो अंग्रेजों के प्रति वैरभाव रखा और न भारतीय जनता में रहने दिया। सामूहिकरूप से यह मूल्य कांग्रेस से उन्होंने स्वीकार करवाया।

यह है कर्त्तव्यसम्बन्ध या धर्मसम्बन्ध के कार्य! इस प्रकार के अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

सम्बन्धों की अपेक्षा अनुबन्धों में अनेक विशेषताएँ हैं। अनुबन्ध आत्मा को ऊँचाई पर ले जाता है, जबकि सम्बन्ध आत्मा को ऊँचाई पर ले जाय, यह निश्चित नहीं। अनुबन्ध की बुनियाद सिद्धान्त होता है, इसका प्रेरकबल चैतन्य होता है और केन्द्रबिन्दु होता है- ध्येय (विश्ववात्सल्य), जबकि सम्बन्ध की बुनियाद सिद्धान्त नहीं होता, अपितु नियन्ता या जन्म होता है; इसका प्रेरकबल भौतिक शरीर होता है और केन्द्रबिन्दु प्रायः मोह होता है। इसी मोह को वह प्रेम समझ लेता है और मोहप्रेरित कार्य को समझ लेता है- कर्त्तव्य।

उदाहरणार्थ, एक ओर रामायण में राम कहते हैं —

सुनु जननि ! सुत सोई बड़भागी, जो पितुमातुवचन अनुरागी

और कैकेयी माता द्वारा दशरथ महाराजा से मांगे हुए वचन के कारण अथवा दशरथ राजा के दिये हुए वचन के लिये राम वन में जाते हैं। यहाँ गुरुजनों (बड़ों) का सम्बन्ध भलीभांति कायम रह जाता है। पर जब सुमन्तसारथि द्वारा राम को और अन्त में सीता को वापिस लौटा लाने की आज्ञा दशरथ करते हैं तो उस समय न तो राम वापिस लौटते हैं और न सीताजी ही। कोई कहे कि यह तो दशरथ राजा ने कहलाया था, कैकेयी ने तो नहीं कहा था पर तु जब भरतजी के साथ कैकेयी आदि सभी दण्डकवन में पहुँच कर रामचन्द्रजी का वापिस अयोध्या लौटने की विनति करते हैं, फिर भी राम अयोध्या नहीं लौटते। अरे ! धर्म की दृष्टि से कोई अड़चन हो तो खुद गुरु वशिष्ठजी वहाँ साथ आकर श्रीरामजी को वापिस लौट जाने का कहते हैं फिर भी राम वापिस नहीं लौटते ! क्या राम हठाग्रही या अविनीत हैं ? गुरुजनों के आदेश को नहीं मानते ? ऐसी बात नहीं है। यहीं अनुबन्ध का रहस्य खुलता है।

जब राम ने वन के लिए प्रस्थान किया तब तक तो उनके सामने मातापिता की आज्ञा थी किन्तु ज्यों ही उन्होंने अयोध्या से बाहर पैर रखा कि वह आज्ञा गुरु, प्रजा तथा सब प्राणियों की बन चुकी। और अरण्य में तो वह क्रमशः पशुपक्षी और वृक्षफल-फूलों तक की अनेकरूपव्यापी बन चुकी। इसलिये वह आज्ञा सम्बन्ध की भूमिका को पार कर अनुबन्ध की बन चुकी।

मतलब यह है कि सबन्ध में अपने माने जाने वाले (कुटुम्ब, जाति या सम्प्रदाय के) लोगों के साथ वचनपालन करना होता है, जब कि अनुबन्ध में विश्व के सभी प्राणियों के साथ वचन पालना होता है। यही कारण है कि श्रीराम दशरथ राजा के प्राणत्याग के

बाद भी उस अवधि तक अयोध्या की ओर नहीं आवें। क्योंकि उन्होंने १४ वर्ष तक वन में रहने का विश्वसंकल्प किया था। यदि श्रीराम ऐसा विश्वसंकल्प करके उससे चलित हो जावें तो जगत में संकल्प करके करके तोड़ने की प्रणाली पड़ जाती। इसीलिए एक बार दिया हुआ वचन कैकेयी माता और दशरथपिता की पुनराज्ञा होने पर भी प्राण एवं प्रतिष्ठा की बाजी लगाकर भी पालना ही चाहिए, यों सोच कर ही श्रीराम संबन्धियों की अपेक्षा अनुबन्धियों को अधिक महत्व देते हैं।

इस पर से सहज ही समझा जासकता है कि मातापिता या गुरु की आज्ञा से भी आगे बढ़नेवाला साधक विश्व को गुरु इसलिए मानता है कि जैसे मातापिता का ऋण है, वैसे मानवसमाज का भी ऋण है ही और आगे बढ़कर गहरा उतरता है तो प्राणिमात्र का ऋण भी उस पर है। अतः व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज और इष्टिरूप विश्व को गुरु मान कर उस परमसाधक को अपने सत्य या सिद्धान्त के बारे में अधिकाधिक सावधानी रखते हुए चलना होता है।

सम्बन्धों की अपेक्षा अनुबन्धों की विशेषता बताने के लिए जैनसूत्रों में मातापिता की आज्ञा की अपेक्षा गुरु की आज्ञा को और अन्त में गुरु की अपेक्षा भी अपने आत्मा की या सत्य की आज्ञा (सच्चस्स आणाए) में चलने की बात कही है। व्यवहारसूत्र के भाष्यकार ने एक श्लोक में इसका निचोड़ दे दिया है :—

'ण वि किंचि अणुण्णाय, पडिसिद्धं या जिणवरिंदेहिं।
एसा तेसिं आणा कज्जे सच्चेण होतव्वं।,'

— जिनवरों ने न तो किसी बात के लिए अनुज्ञा ही दी है और न ही निषेध किया है, परन्तु उनकी आज्ञा यह है कि कार्य में पूरी सत्यता (विश्वहितकारिता) होनी चाहिए।

अर्थात् किसी भी कार्य को करते समय ध्येय, सिद्धान्त या आत्मा के प्रति पूरी सच्चाई या वफादारी होनी चाहिये।

यहाँ माता पिता, गुरु या जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा की अपेक्षा कार्य में सत्य की आज्ञा सर्वोपरि बताई है।

धर्मरुचि अनगार को उनके गुरु धर्मघोष मुनि ने स्पष्ट आज्ञा दी थी कि—"यह कडवे तुम्बे का साग परिठा (यतनापूर्वक डाल) आओ।" अगर गुरु के मन में यह बात होती कि इसे नहीं परिठ कर यह स्वयं ही खाले तो वे परिठने (डालने) के लिए उन्हें भेजते ही क्यों? फिर भी धर्मरुचि मुनि ने परिठने (जमीन पर डालने) से कीडी आदि जन्तु मरें इसकी अपेक्षा स्वयं अपने पेट में डालकर स्वेच्छा से सिद्धान्त के खातिर प्राणत्याग करना अच्छा समझा। यहाँ गुरु की आज्ञा का लोप नहीं हुआ, उलटे गुरु की आज्ञा दीप उठी। इसीलिए तो जैनशास्त्र में धर्मरुचि अनगार को भावांजलि अर्पित की गई है।

जो मरुदेवी माता अपने पुत्र ऋषभदेव के मोह-सम्बन्ध के कारण उनकी दीक्षा के समय रोई थीं, उन्हीं माता मरुदेवी को ऋषभदेव भगवान को साधुअवस्था में देख कर विरह के साथ अनुबन्ध जोडने की अनुप्रेक्षा होने से पुत्रमोह दूर हो जाता है, और उन्हें उसी समय केवलज्ञान प्राप्त होता है।

जो राम पिता की मृत्यु के समय श्राद्ध करने नहीं आते, वे ही राम स्वयं जटायुपक्षी का तर्पण करते हैं। क्या दशरथ की अपेक्षा, जटायु राम के लिए विशेषमान्य थे? एक दृष्टि से तो थे ही। क्योंकि दशरथ राजा तो पुत्रवियोग से मृत्यु प्राप्त करते हैं, जबकि जटायुपक्षी तो सीता का अपहरण करने वाले रावण के अन्याय का प्रतीकार करते करते मरता है। यों देखा जाय तो जटायु के तर्पण में दशरथ का तर्पण भी आ ही जाता है।

दूसरी ओर लक्ष्मण की एक विचारणा देखिये! जब भरत को ससैन्य सेना लेकर आते हुए वे देखते हैं तो राम के हित में, उनके प्रति शंका प्रगट करते हैं। तब श्रीराम लक्ष्मण की बात को नहीं मान कर, उलटे उसे उपालम्भ देते हैं; और भरत को आलिंगन करते हैं। राम के साथ वन में रहने वाला और पत्नी एवं माता को भी छोड़कर आने वाला लक्ष्मण राम के लिए अधिक नजदीक था या भरत?

अगर राम सिर्फ शरीर या नजदीक के सम्बन्धियों का ही विचार करते तो लक्ष्मण को अधिक मानते, किन्तु राम का सम्बन्ध सिर्फ सगोत्रसम्बन्धियों, देहिकसम्बन्धियों तक ही सीमित न था अपितु मानवमात्र से भी बढ़ कर पशुपक्षी और वनस्पतिसृष्टि (समष्टि) तक पहुँच गया था। इन सब उदाहरणों से समझा जा सकता है कि सम्बन्ध की अपेक्षा अनुबन्ध का क्षेत्र, काल और भाव कितना विशाल और व्यापक है!

हाँ, यह बात अवश्य है कि आत्मा के साथ प्राणिमात्र का सम्बन्ध नैसर्गिक रूपसे है किन्तु उस सम्बन्ध में अज्ञानी जीव राग और द्वेष का मालिन्य घोल लेते हैं, इसलिए वह सम्बन्ध स्थायी, निरवद्य, शुद्ध और मीठा नहीं होता, अपितु एक कुटुम्ब, जाति आदि के साथ देहिक मोहकृत या ममत्वकृत सम्बन्ध होता है, बाकी के दूसरे प्राणियों के साथ फीका, कटु या अस्थायी होता है। जबकि ध्येयानुप्रेरी ज्ञानी साधक उस सम्बन्ध में रागद्वेष का विष नहीं आने देते और उसे स्थायी, शुद्ध, निरवद्य आत्मकृत, वात्सल्यमय और धर्मसम्बन्ध बनाते हैं, मतलब कि उसे अनुबन्ध का रूप देते हैं।

[illegible] बन्ध, प्रबन्ध, और अनुबन्ध में अन्तर

बहुत से साधकों को और खासतौर से जैन साधकों को अनु बन्ध शब्द में 'बन्ध' शब्द देखकर सहसा घबराहट होती है और

वे इसके अपनाने से हिचकिचाते हैं। क्योंकि जैनलोगों को यह शब्द नया और अरुचिकर इसलिए लगता है कि जैनआगमों में बन्ध यानी कर्मबन्धन से डरने की बात जगह-जगह कही गई है। इसीलिए जैनतत्त्वज्ञान में अनुबन्ध के अर्थ में अनुप्रेक्षा और अनु योग शब्द अवश्य दिये हैं। जैनागमों में एक आगम का नाम ही 'अनुयोगद्वार' है। जिसे चार मूलसूत्रों में गिनाया गया है। और शास्त्रज्ञान की चाबी बताया गया है।

एक बात और भी सुनिये! बन्ध शब्द से भी हमें डरनेकी जरूरत नहीं है। प्रत्येक क्रिया बंधनरूप नहीं होती। इस संसार में प्रत्येक प्राणी क्रिया तो करता ही है, कोई शरीर से, कोई वचन से, कोई मन से। कोई स्वयं करता है, कोई दूसरों के द्वारा कराता है अथवा कोई दूसरे करते हों तो उनका समर्थन किया करता है। मतलब यह कि सोते-जागते, खाते-पीते या जगत् का कोई भी व्यवहार करते हुए कोई भी देहधारी एक क्षणभर भी क्रिया के बिना रह नहीं सकता। ऐसा होते हुए भी कोई यह कहे कि मैं क्रिया नहीं करता या मुझे क्रिया नहीं करनी है तो यह कथन निरर्थक ठहरता है। हम अपनी आंख, कान आदि बाह्य इन्द्रियों को कदाचित् बन्द कर लें तो भी मन, बुद्धि चित्त, अहंकार एवं शरीर आन्तरिक क्रियाएँ तो करते ही रहते हैं, उन्हें कहाँ और कैसे बंद करेंगे? अतः रहस्य यह है कि प्रत्येक क्रिया से होने वाला कर्म अनुबन्धरूप नहीं हुआ करता। प्रत्येक क्रिया से होने वाले परिणाम के लिए जैनदर्शन में तीन सूत्र बताए गए हैं (१) क्रियातः कर्म, (२) उपयोगे धर्म और (३) परिणामे बन्ध।

बन्ध का आधार केवल क्रिया नहीं है। क्रिया से कर्म होते हैं। परन्तु उस क्रिया में रागद्वेषरहितता का उपयोग या सावधानी रखली जाय तो वह बन्धनकारक होकर बन्धनमुक्त करने वाला धर्म

हो जाता है। अर्थात निःस्वार्थभावसे जो क्रिया अनुबन्ध का ख्याल रखकर की जाती है बिगड़े हुए अनुबन्धों को सुधारने, टूटे अनुबन्धों को जोड़ने की दृष्टिसे क्रिया की जाती है, वह अहिंसा— त्याग—सत्य—न्याय-रूप होनेसे बन्धनरूप नहीं, अपितु धर्मरूप है। इसी 'उपयोगे धम्म' के सूत्र को हम आज की युगानुरूप भाषा में यों रख सकते हैं—अनुबन्ध धर्म। तादात्म्य और तादरूप्य रखते हुए अनुबन्धपूर्वक क्रिया की जाय, वहीं धर्म है।

और तीसरा सूत्र परिणामे बन्ध है। उसका अर्थ यह है कि शुभ या अशुभ परिणामपूर्वक की जानेवाली क्रिया से बन्ध होता है। परिणाम का अर्थ है—भावना, अध्यवसाय या आशय। प्रत्येक व्यक्ति के जैसे विचार होते हैं, उसके अनुसार उसके कार्य होते हैं। शुद्ध विचार धर्मकारक होते हैं, शुभविचार पुण्यकारक और अशुभ विचार पापकारक। दशवैकालिक सूत्र में शुद्ध या शुभ क्रिया (कार्य) से करने वाले साधकों को चेतावनी देते हुए कहा है—

> जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे, जयं सए।
> जयं भुंजतो, भासतो पावकम्म न बंधइ ॥,

जो व्यक्ति यतना (सावधानी पूर्वक) से चलता है या चर्या करता है, यतना से (विवेक से) बैठता है यतना से उठता है, यतना से सोता है, यतना से खाता और बोलता है, यानी सभी क्रियाएँ अप्रमाद, विवेक या यतनापूर्वक करता है, वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता।

अब तो अनुबन्ध से भड़कने वाले साधक समझ गए होंगे कि प्रत्येक क्रिया से बन्ध नहीं होता। बल्कि अनुबन्ध के विवेकपूर्वक निःस्वार्थभाव से सर्वभूतहितक्रिया की जाय तो पुण्य होता है।

अब प्रबंध शब्द को लीजिए। कई लोग यह तर्क कर सकते हैं—कि अनुबन्ध का अर्थ अगर विश्व की व्यवस्था या संतुलन कायम रखना

ही है तो अनुबन्ध जैसे [illegible] द पंथ रख दिया जाये। उनका यह तर्क ठीक है। किन्तु एक तो प्रबन्धशब्द से सामान्यव्यवस्था का भाव सूचित होता है, ध्येयानुकूल व्यवस्था या या समतुला का अर्थ नहीं निकलता। दूसरे, अनुबन्धशब्द का जो दूसरा अर्थ आत्मानुकूल या ध्येयानुकूल सम्बन्ध स्थापित करना है, वह इसमें से बिलकुल सूचित नहीं होता। एतदर्थ, अनुबन्धशब्द के बदले प्रबन्धशब्द से काम नहीं चल सकता।

अनुबन्ध के बदले अनुयोग, अनुप्रेक्षा या योग क्यों नहीं?

यद्यपि यह शंका हो सकती है कि अनुबन्ध में बन्ध शब्द जब कुछ लोगों में भ्रान्ति पैदा करने वाला है तो उसके बदले अनुयोग या योग अथवा अनुप्रेक्षा शब्द ही क्यों नहीं रख लिया जाय? परन्तु हम इससे कतई सहमत नहीं हो सकते। क्योंकि अनुयोग शब्द मूल में जैनशास्त्रों में ही आता है और उसका अर्थ भी वहां सिर्फ शास्त्र वचन के साथ अनुकूलकथनपरक ही किया गया है। अनुयोगशब्द की व्युत्पत्तियां देखिए:—

अनु=पश्चात् योजनं सूत्रेण सह सम्बन्धनं=यथानुरूप-प्रतिपादनं अनुयोगः।

युज्यते=सम्बध्यते भगवदुक्तार्थेन सहेति योगः कथनलक्षणो व्यापार अनुरूपोऽनुकूलो वा योग=अनुयोगः।
भगवदुपदिष्टमर्थमनु=लक्ष्यीकृत्य योगः कथनमनुयोगः।
अनु=भगवदुपदिष्टमर्थमर्थमनु प्रति योगः कथनमनुयोगः।
अनु=परिपाट्या-तीर्थंकरपरम्परामनुसृत्य योगः=कथनम-नुयोगः।

अर्थात्-सूत्र के साथ सम्बन्ध करना यानी अर्थानुरूप कथन करना अनुयोग है। अथवा भगवान् के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व के साथ—

वाली तत्वानुरूप कथन करना अनुयोग है। अथवा भगवान् के द्वारा उपदिष्ट अर्थ को लक्ष्य में रखकर कथन करना अनुयोग है, अथवा भगवदुपदिष्ट पदार्थों में से किसी को भी छोड़े बिना कथन करना, या तीर्थंकरपरम्परा के अनुसार कथन करना अनुयोग है।

अनुयोगशब्द के उपर्युक्त व्युत्पत्यर्थों को देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि अनुयोगशब्द से अनुबन्ध का काम नहीं लिया जा सकता। क्योंकि वह तो शास्त्रवचन, तक ही सीमित है, जबकि अनुबन्ध में तो शास्त्रवचन, सिद्धान्त या ध्येय के अनुरूप व्यवस्थित विचारपूर्वक सम्बन्धों को सुधारने, टूटे हुए सम्बन्धों को सांधने, विश्व की व्यवस्था संतुलित रखने, विश्व को समसूत्र पर रखने का कार्य करने की बात है।

हो सकता है कि अनुयोगशब्द का अर्थ शास्त्रवचन, सिद्धान्त सत्य या ध्येय के अनुरूप विचार करके विश्व के साथ वात्सल्यसम्बन्ध जोड़ना प्राचीन काल में रहा हो उसके बाद वह परम्परा छिन्नभिन्न हो जाने से उस पर विस्मृति की धूल जम गई हो। परन्तु आज तो अनुयोगशब्द शास्त्रवचनों की व्याख्या करने के अर्थ में रूढ़ हो गया है। किन्तु यह बात तो निर्विवाद है कि प्राचीनकाल के जैन साधुसाध्वी शास्त्रज्ञान, चिन्तन, सिद्धान्तदृष्टि को मैं रखकर अनुयोग के द्वारा वही कार्य करते थे, जो आज के युग में हम अनुबन्ध के द्वारा करना चाहते हैं। जो हो आज अनुबन्ध शब्द में जो सभी पहलुओं का समावेश होजाता है, वह अनुयोग शब्द में आज नहीं हो सकेगा।

कोई यह कह सकता है, अनुयोग शब्द न सही, परन्तु अनुबन्ध के बदले अनुप्रेक्षा शब्द रख दिया जाय तो काम चल सकेगा ? हम इसका उत्तर नहीं में देते हैं। क्योंकि अनुप्रेक्षा से चिंतन का भाव निकलता है, कर्त्तव्य का भाव नहीं। यद्यपि अनुप्रेक्षा अनुबन्ध के विचारपक्ष में सहायिका अवश्य है किन्तु आचारपक्ष में कर्त्तव्यप्रेरणा

उससे नहीं मिलती । दूसरी बात यह है कि अनुप्रेक्षा का प्राचीनकालिक आचार्यों ने भावना अर्थ किया है । उसके १२ प्रकार बताये हैं—अनित्य, अशरण आदि । इन १२ भावनाओं (अनुप्रेक्षाओं) के द्वारा प्राचीनकाल से लेकर आज तक प्रायः व्यक्तिगत चित्तशुद्धि और आत्मशुद्धि का ही विचार होता आया है । आज का युग सामूहिक साधना का है । सत्य-अहिंसा आदि का सामूहिक प्रयोग महात्मा गांधीजी ने मानवजीवन के सभी क्षेत्रों में करके बताया है । इसलिए अब तो इन (१२) अनुप्रेक्षाओं से सामूहिक प्रयोग का चिन्तन होना चाहिए अगर सामूहिक और आत्मानुबन्धी (विश्व की सभी आत्माओं से अनुबंधित) चिन्तन इन अनुप्रेक्षाओं से हो तो ये अनुबन्धप्रयोग में काफी मददगार हो सकते हैं ।

अब रहा सवाल अनुबन्ध के स्थान पर योग शब्द से काम चलाने का । यद्यपि योगशब्द से जोड़ने का अर्थ निकलता है । और कई प्राचीन आचार्यों एवं दार्शनिकों ने योग शब्द का अर्थ आत्मा को परमात्मा से जोड़ना किया भी है किन्तु विचार और व्यवस्थितपूर्वक जोड़ने का अर्थ योगशब्द से नहीं निकलता । साथही विश्व की व्यवस्था या समतुला सुरक्षित रखने का अर्थ भी नहीं निकलता । इसलिए योग शब्द से अनुबन्ध का काम नहीं चल सकता । फिर योगशब्द के विभिन्न दर्शनकारों और योगपरम्पराओं ने अलग अलग अर्थ किये हैं । जैसे पातञ्जल योगदर्शन में (योगश्चित्तवृत्तिनिरोध) चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है । गीता में (योगः कर्मसु कौशलम्) कर्मों में कुशलता और (समत्वं योग उच्यते) समत्व को योग कहा है । जैनदर्शन में मनवचनकाया के व्यापार को योग कहा है और जैनयोगकारों ने आत्मा के परमात्मा से मिलन को योग कहा है । इसलिए इस प्रकार के विवादास्पद और पूरा अर्थ द्योतित न करने वाले शब्द को रखना उपयुक्त नहीं है ।

अनुबन्ध में गर्भित सम्बन्ध पर शंका

अनुबन्ध के एक अर्थ में जो सम्बन्ध जोड़ने की बात कही गई है, उस बारे में यह शंका होती है कि साधुसाध्वियों के लिए, साधकों के लिए सम्बन्ध तो वर्जित कहा गया है, उन्हें तो निःसंग रहना चाहिए। इसका कारण बताते हुए वहाँ कहा गया है कि अगर साधक व्यक्तिगत शुद्धि या साधना को छोड़ कर सामाजिक शुद्धि के लिए समाज से संग करेगा तो समाज की अशुद्धियों का चेप उसे लग जायगा समाज के दोष उस पर भी असर डालेंगे। इसलिए समाज से सम्पर्क, संसर्ग, संग या सम्बन्ध नहीं करना चाहिए। उन्हें तो निःसंग ही रहना चाहिए।

इस शंका का समाधान यद्यपि विभिन्न शास्त्रों में साधकों के लिए कर ही दिया गया है, फिर भी हम यहाँ उसे विशेष स्पष्ट करने की दृष्टि से दोहरा लेते हैं। साधकों को जो समाज या संसारसे निःसंग रहने का कहा गया है, उसका अर्थ वात्सल्यमय सम्बन्ध रखना या जोड़ना नहीं, यह नहीं है। उसका अर्थ यही है कि सम्बन्ध रखते हुए भी सम्बन्धियों के प्रति संग यानी आसक्ति न आने देना। समाज, राष्ट्र या विश्व के साथ जब साधक अनुबन्ध (ध्येयानुकूल सम्बन्ध) जोड़ने जाता है या टूटे हुए सम्बन्धों या बिगड़े हुए सम्बन्धों को सुधारने व सांधने जाता है तो यह स्वाभाविक है कि कच्चा साधक हो तो उस पर समाज, राष्ट्र या विश्व आदि के दोषों या अशुद्धियों का असर हो किन्तु यहाँ तो पक्के साधक की बात कही गई है। सावधान और जागरूक साधक तादात्म्य के साथ साथ ताटस्थ्य को न भूलते हुए अनुबन्धप्रवृत्ति करेगा तो उसे कहीं भी दोषों के चेप का खतरा नहीं है। विश्ववत्सल साधुसाध्वी के लिए जैनशास्त्रों में षट्काय (विश्व) के मातापिता, रक्षक या प्रतिपालक का बिरुद दिया गया है, तब वह विश्व के सभी प्राणियों से अनुबन्ध (वात्सल्यमय सम्बन्ध) रखे बिना रह ही कैसे सकता है? किन्तु साथ ही उसे

अप्रमाद की साधना भी करनी है कि स्वयम्बों में कहीं राग द्वेष, अशुद्धि, मालिन्य आदि अपने में न आजाय। इसी का नाम है-जगत् के साथ अनुबन्ध रखते हुए भी जगत् से निर्लेप या निःसंग रहना। मतलब यह है कि ६ काया ओतप्रोत रहते हुए भी ६ काया से अनासक्त रहना साधुता की साधना का रहस्य है। विश्व के प्राणिमात्र के साथ हमारा सम्बन्ध एकात्मभाव से चैतन्यदृष्टा से सिद्ध होते हुए भी जो साधक उस सम्बन्ध को विशुद्ध न बना रख कर या पवित्र न रख कर उसके लिए जगत् से दूर कर दूर भागने की सोचता है या समाज व राष्ट्र से अलग रहने का प्रयत्न करता है और व्यक्तिगत एकांगी साधना में उतरता है, उसे सर्वांगी सिद्धि मिलने में कचास रह जाती है। और अलग रहने पर भी दैहिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति के लिए समाज से सम्पर्क होने पर समाज को बदले में कुछ भी न मिलने से अपनी अहिंसादि शक्तियों की परख नहीं होसकती। दूसरी बात यह है कि जो साधक यह कहते हैं कि हमारा विश्व के या समाज के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है या उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना है, वे अपने महाव्रतों की प्रतिज्ञा पर विचार करेंगे तो उन्हें मालूम हो जायगा कि महाव्रतों की प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए उन्हें विश्व के साथ अनुबन्ध (वात्सल्यसम्बन्ध) जोड़ने की जरूरत है। उदाहरणार्थ पहिले महाव्रत को लें। इसकी प्रतिज्ञा निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों प्रकार से होती है। विश्व के सभी प्राणियों को हिंसा स्वयं न करना, दूसरों से न कराना और हिंसा करते हों उन्हें अनुमोदन न देना। इसीप्रकार अहिंसा का स्वयं पालन करना, दूसरों से पालन करवाना और पालन करते हों उन्हें अनुमोदन देना, प्रोत्साहन देना, मन, वचन और काया से। यह अहिंसा-महाव्रत की प्रतिज्ञा का रूप हुआ। अब यहाँ अगर साधक यह कहे कि मेरा तो अपने तक ही अनुबन्ध सीमित है, समाज (मानवजाति) और समष्टि (मानवेतर समस्त प्राणी) तक नहीं, तो उसके प्रथम महाव्रत की प्रतिज्ञा

द्वितीय और तृतीय अंश का पालन नहीं हो सकता। उसे प्रथम महाव्रत की प्रतिज्ञा का विधायक और निषेधक दोनों प्रकार से पूर्णरूप से (कृत कारित और अनुमोदितरूप से) पालने करने के लिए अन्य प्राणियों के साथ अनुबन्ध करना अनिवार्य होगा। जैसे प्रथम महाव्रत की प्रतिज्ञा के विषय में बताया गया है, वैसे ही शेष चार महाव्रतों –सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों के बारे में समझ लेना चाहिये।

विश्वविशाल अनुबन्ध की यह महासाधना सतत करने पर ही उसके जीवन का सही निर्माण या व्यक्तित्व का पूर्ण निर्माण हो सकता है।

परन्तु साथ ही यह बात ध्यान में रखनी जरूरी है कि, वह यदि रागद्वेष बढ़ा लेता है, मलिनतत्वों से सावधान और अप्रमत्त नहीं रहता है तो स्वयं भी डूबता है और दूसरों को भी डुबाता है।

अतः अनुबन्धसाधना में जो सम्बन्ध सुधारना या शोधना है वहाँ तादात्म्य और ताटस्थ्यपूर्वक सचेष्ट रहना यही निःसंगता का रहस्य है। इस प्रकार की साधना से वह दूसरों का विकास, कल्याण या सुधार करता है या कर ही देगा, इस प्रकार का अहंकार या महत्त्वाकांक्षा, व आसक्ति न रख कर वह अपना ही विकास कर रहा है अपनी ही आत्मोन्नति कर रहा है, यह समझना चाहिए, क्योंकि आखिर 'आत्मा' तो एक ही है

कई लोग साधना के लिए एकान्तसेवन करते हैं, इससे सामान्य लोगों को यह लगता है कि जगत के साथ अनुबन्ध जोड़ना, जगत् के प्रपंच में फंसना है, उससे दूर रह कर ही साधना हो सकती है। किन्तु यह एक भ्रम है। कोई भी साधक साधना किये बगैर नहीं रह सकता। और जब वह साधना करता है तो पहले उसे कुछ अवधि के लिये अपने मन, वचन और काया को इतने अभ्यस्त बनाने

पड़ते हैं कि समाज के बीच में रहते हुए वह (आदमी) दोषों में लिप्त न होजाय। इस प्रकार के अभ्यास के लिए वह कदाचित् एकान्तसेवन करता है तो समझना चाहिए, वह अभ्यास पूरा होते ही समाज, राष्ट्र व विश्व के साथ अनुबन्धसाधना के लिए समुद्र के बीच आने वाला है। मुख्य वस्तु तो 'अरतिर्जनसंसदि' (जनसमूह में रहते हुए अनासक्ति रखना) है। जनसम्पर्क से डरना या अनुबन्धसाधना से घबराना ऐसे साधक का लक्ष्य नहीं है।

अगर कोई साधक निष्प्रयोजन या समाजानुबन्ध से डर कर एकान्त सेवन करता है और वह मान लेता है कि इससे मैं शुद्ध हो गया या शुद्ध रह सकूंगा क्योंकि मैं समाज से बिलकुल अलग हूँ इस प्रकार समाज, राष्ट्र या विश्व की अशुद्धियों को दूर करने के लिए अनुबन्ध साधना की ओर आंखमिचौनी करता है तो वह साधक शायद अपनी व्यक्तिगत शुद्धि होने की मान्यता में ठगा जाता है। समाज की अशुद्धियों से घबरा कर समाजानुबन्ध से दूर भागने वाला साधक सच्चा साधक नहीं है। उसकी साधना उसे पूर्णता की ओर न लेजाकर वहीं अटका देती है। यहाँ बाहुबलि मुनि का उदाहरण विचारणीय है। वे सिद्धि प्राप्त करने के लिये व्यक्तिलक्षी बन कर एकान्त जंगल में गये, घोर तपस्या की। लेकिन समाजलक्षी साधक न बने, इससे साधना कच्ची रह गई। सिद्धि न मिली। जब ब्राह्मी और सुन्दरी ये साध्वियाँ उनके पास गईं। बाहुबलि मुनि को नम्र प्रेरणा दी समाजलक्षी बनाए, तभी जाकर उन्हें सिद्धि मिल सकी थी।

इसी मतलब को लेकर जैनधर्म में साधुसाध्वी के साथ श्रावक और श्राविका यानी संन्यासाश्रम और गृहस्थाश्रम इन दोनों आश्रमों वालों और चारों वर्णों वालों को समाविष्ट करके पहले से ही अनुबन्ध जोड़ने की बात बताई हुई है। क्योंकि अनुबन्ध जोड़े बिना लोकसंग्रह

नहीं होता और लोकसंग्रह के बिना सिद्धान्तानुकूल सामूहिक साधना नहीं होती। इसलिये चतुर्विध संघ (समाज) के साथ रहने वाले साधु साध्वी के लिए तो अनुबन्ध (ध्येयानुकूल सम्बन्ध) अनिवार्य हो जाता है।

साधना की छोटी-सी पगदंडी के निकट दोनों ओर वासना और आसक्ति की दो बड़ी खाइयां हैं। प्रतिक्षण साधक की आंख को पदार्थों के आकर्षक प्रलोभन, प्रतिष्ठा का लालच अहं का सुहावना गीत खींचने का प्रयत्न करता है भय और वहम की आंधियां उसे मार्ग से भ्रष्ट करने की कोशिश करती हैं। अगर जरा-सा भी वह डिग जाता है तो एकदम गहराई में नीचे जाकर गिरा ही समझो। ऐसे समय में उसे उसके साथ ही जागृत करने वाले, प्रेरणा करने वाले की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। अगर वह समाज से अनुबन्ध तोड़कर एकान्त में व्यक्तिगत साधना करने जाता है तो उसे जागृत करने वाला कोई निमित्त या अवलम्बन नहीं मिलता। ऐसे समय में उस कच्चे साधक की स्थिति भयावह होती है। जैनधर्म में तो साधु और गृहस्थ दोनों साधकों का परस्पर अनुबन्ध रखा गया होने से एक की भूल दूसरा बता देता है। साधुवर्ग में अमुक साधक भूल करता है तो गृहस्थ-वर्ग का अमुक योग्य साधक उसे जागृत कर देता है और गृहस्थवर्ग का अमुक साधक भूल करता है। तो साधुवर्ग का अमुक साधक उसे जागृत करता है। ऐसे अनेकों उदाहरण जैनशास्त्र में आए हैं। गौतम स्वामीजी जैसे दीर्घकालदीक्षित साधक गृहस्थसाधक आनन्दजी के साथ बोलने में भूल कर बैठे तो आनन्दजी ने उन्हें नम्रतापूर्वक सावधान कर दिया। इसी प्रकार महाशतक श्रावक अपने साधना-जीवन में भूल कर रहे थे उस समय भ. महावीरने गौतमस्वामी द्वारा उन्हें जागृति का संदेश कहलवाया। इसी प्रकार भगवतीसूत्र में उल्लिखित शंख और पोखली श्रावक में से एक की भूल होने पर भ. महावीर ने

उन्हें चेताया था। यह कार्य पारस्परिक अनुबन्ध होने पर ही हो सकता है। यही कारण है शास्त्र में एक ओर साधुसाध्वियों को छकाया (विश्व के प्राणिमात्र) के मातापिता कहा है तो दूसरी ओर योग्य सद्गृहस्थों को साधुसाध्वियों के 'अम्मापिउसमाणा' (मातापिता के समान) कहा है। अगर समाज से किनाराकशी करके स्थविरकल्पी साधु एकान्त सेवन करने चला जाय तो उसकी साधना में त्रुटियाँ रह जानी स्वाभाविक हैं।

कोई कह सकता है कि जो जिनकल्पी साधु देहाध्यास छोड़ कर आत्मपरायण होकर जंगल में एकान्त स्थल में रहते थे, संघ में नहीं रहते थे, उनकी साधना फिर कैसे सफल हो सकती थी? इसका उत्तर यही है कि जिनकल्पी साधना के लिए शास्त्रकारों ने पहिले से ही अमुक योग्यता शारीरिक, मानसिक शक्तियों की अमुक भूमिका, अमुक पवित्रता और जागृति की सततनिष्ठा बता रखी है। वैसी योग्यता न होने पर कोई जिनकल्पी साधना नहीं कर सकता था। इसलिए प्राचीन-काल में एक परम्परा ऐसी थी कि संघ के आचार्य जब आसन्न वृद्ध हो जाते, स्थविरकल्पी साधना में पारंगत हो जाते और मृत्युदशा समीप देखते तो संघ का भार अन्य किसी योग्य साधु को सौंप कर वे संघ से निःसंग होकर जिनकल्पी साधना करने चले जाते। उस दशा में भी संघ के साथ उनका बाह्य सम्बन्ध न होते हुए भी उनके आचरण से संघ को (समाज को) सतत मूक प्रेरणा मिला करती थी। बल्कि उनका बाह्य सम्बन्ध न रहते हुए समस्त प्राणिमात्र के साथ आन्तरिक सम्बन्ध बढ़ जाता और वहां रहे-रहे वे समाज और समष्टि पर अपना आध्यात्मिक प्रभाव डाला करते थे। कभी ऐसा मौका भी आ पड़ता था, जब जिनकल्पी-साधना करते-करते भी समाज की सुव्यवस्था के लिये साधक को स्थविरकल्पी साधना में आना पड़ता था। उदाहरण के तौर पर जैसे श्रीभद्रबाहु स्वामी को एक बार

माज में ज्ञान, दर्शन और चरित्र की सुव्यवस्था के लिये जिनकल्पी साधना छोड़ कर पाटलिपुत्र आना पड़ा। अब आप समझ गये होंगे कि जिनकल्पी साधना भी विश्वात्मानुबन्धी साधना होती थी। और उनकी साधना में कषाय की गुंजाइश तो हो ही कैसे सकती है, क्योंकि उस साधना के उम्मीदवार के लिये पहले से ही कड़ी शर्तें रखी गई हैं। इतना होने पर भी जिनकल्पी साधु स्थविरकल्पी मुनियों की साधना को भर्म्याञ्जलि अर्पित करते थे, क्योंकि जिनकल्पी मुनि समाज से प्रत्यक्ष सबंध न रख कर साधना करते थे, इसलिये वहां आसक्ति का खतरा नहीं था, परन्तु स्थविरकल्पीसाधना में समाज और समष्टि के साथ अनुबन्ध रखते हुए भी निरासक्त रह कर कार्य करना एवं स्वकल्याण और परकल्याण दोनों उद्देश्य सुरक्षित रखते हुए आगे बढ़ना बहुत कठिन होता था। इसी कारण स्थविरकल्पी मुनियों का समाजसम्बन्ध प्रत्यक्ष होने से वे जिनकल्पी मुनियों की अपेक्षा उच्च माने जाते थे।

इसलिये किसी भी आधुनिक युग के साधक को विश्व से अनुबन्ध तोड़ना नहीं है, बल्कि अपने तथाकथित सम्प्रदाय या समाज के साथ मोहबन्ध या आसक्तिबन्ध हो तो उसकी जगह सच्चा अनुबन्ध बना कर सारे विश्व के प्राणिमात्र के साथ अनुबंध जोड़ना है।

कुछ लोग, जिनमें अधिकतर साम्प्रदायिकता की दृष्टिवाले लोग हैं यह कहा करते हैं कि हमारे तथाकथित सम्प्रदाय के सिवाय दूसरे सब मिथ्यादृष्टि हैं, काफिर हैं, अमर्यादी हैं, असंयमी हैं, बिना व्रतनियम लिए हुए हैं, अव्रत हैं। फिर उन लोगों के साथ हम सम्यक्दृष्टि (सच्ची श्रद्धा वाले) लोग संसर्ग कैसे कर सकते हैं? उनसे संपर्क करना, संबन्ध जोड़ना, परिचय करना या उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाना उनकी प्रशंसा करना तो हमारे शास्त्र में वर्जित है, दोष बतलाया है। ऐसी

दशा में साधक के लिये विश्व के साथ अनुबन्ध जोड़ना कैसे शक्य हो सकता है ?

यह प्रश्न काफी गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है। बड़े-बड़े साधकों को यह प्रश्न कभी-कभी काफी उलझन में डाल देता है। परन्तु कोई भी साधक सांप्रदायिकता का चश्मा उतार कर तटस्थदृष्टि से इस पर विचार करेगा तो यह समस्या शीघ्र ही हल हो जायगी। असल में जबकि सभी धर्मों के महापुरुषों ने विश्व के साथ मैत्री, बन्धुत्व, वात्सल्य, भाईचारा प्रेम, आत्मीयता या समता साधने की बात कही है, तब बिना अनुबन्ध की सक्रियसाधना किये, ये ध्येय मूर्तिमान होने कठिन हैं अन्यथा फिर तो ये ध्येय वाणी पर चढ़ कर ही रह जायेंगे। दूसरी बात यह है कि हम यह क्यों मान कर चलते हैं और दूसरों के लिये निर्णय दे देते हैं कि हम ही सम्यक्दृष्टि हैं, दूसरे सब मिथ्यादृष्टि आदि हैं। आपके पास दूसरों के मिथ्यादृष्टित्व का सबूत क्या है? और मानलो कि दूसरे मिथ्यादृष्टि आदि हैं तो पक्का साधक उनके संपर्क से डरेगा नहीं, बल्कि अपनी सच्ची दृष्टि का रंग उन पर चढ़ाये बिना न रहेगा। और जैनधर्म तो इतना उदार है कि स्वतीर्थ (संघ) या वेश में ही नहीं, अन्यतीर्थ तथा अन्यवेष में, एवं गृहस्थजीवन में, स्त्री-पुरुष-नपुंसक आदि सभी को सम्यक्दृष्टित्व ही नहीं, मोक्ष तक प्राप्त करने की योग्यता बताता है, मोक्षगामी बताता है। तब यह शंका कहाँ रही कि हम मिथ्यादृष्टि से संपर्क कैसे करें? बल्कि मिथ्यादृष्टि तो वह ठहरेगा, जिसकी दृष्टि संकुचित, अनुदार और भौतिकता की ओर हो, स्वधर्म-सम्प्रदाय-मोहग्रस्त हो, स्वशरीर-ममत्व-ग्रस्त हो, स्व-कल्याणमात्र में आबद्ध हो, विश्वविशाल-अनुबन्धदृष्टि न हो। जो अपने तथाकथित सम्प्रदाय, संघ (धर्म) एवं मजहब के शराब से खराब अभोलिमान, शोषणग्रस्त, अहिंसात्यादि के आवरण

से दूर अनुयायी की केवल अन्धभक्ति या अन्धश्रद्धा या अमुक युग-बाह्य क्रियाकाण्डों के कारण ही प्रशंसा करता हो या प्रतिष्ठा देता हो, किन्तु दूसरे धर्म, मजहब, सम्प्रदाय या सघमें नेकनाम, परोपकारी, नीतिमान अहिंसासत्यादिपरायण, सदाचारी एवं अच्छा से अच्छा व्यक्ति हो, वह चूंकि मेरे सम्प्रदायादि को नहीं मानता है या हमारे सम्प्रदायानुसार क्रियाकाण्ड नहीं करता है तो क्या पहले को सम्यक्दृष्टि और दूसरे को मिथ्यादृष्टि कहने या समझनेवाला व्यक्ति स्वयं ही मिथ्यादृष्टि नहीं ठहरता है ? अत सम्यक्दृष्टि और विश्वव्यापक अनुबन्धदृष्टिसम्पन्न साधक को तो सभी के साथ अनुबन्ध जोड कर यथायोग्य मार्गदर्शन एवं प्रेरणा देनी चाहिये। यही उसका स्वतः स्वधर्म बन जाता है।

अनुबन्ध का माहात्म्य

अनुबन्धसाधना साधकजीवन के लिए भोजन से भी बढ़कर है। कदाचित् साधक आहार लिए बिना महीनों तक रह सकता है, परन्तु अनुबन्धसाधना बिना नहीं रहसकता है। क्योंकि जगत् की आत्मा के साथ साधक की आत्मा का अभेदसम्बन्ध है, निश्चयनय की दृष्टि से संसार की आत्मा और अपनी आत्मा में कोई अन्तर नहीं। इस विलक्षण एकता के कारण ही साम्यभाव की दृष्टिवाला साधक जगत् के प्राणियों में विषमता (चाहे वह समाजकृत हो, अर्थगत हो, प्राणिगत हो या व्यवस्थागत हो) देखता है तो वह अनुबन्धप्रयोग द्वारा उस विषमता को मिटाने और समता को स्थापित करने का सतत प्रयत्न करता है। यही उसका 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' का सक्रिय कार्यक्रम होता है। इस साधना में वह डरता नहीं, घबराता नहीं, धैर्य खोता नहीं है। अनुबन्धसाधना के माहात्म्य से वह आत्मौपम्य की सक्रिय प्रवृत्ति कर सकता है।

आत्मा के साथ विश्व के प्राणिमात्र का सम्बन्ध होने से जैसे शरीर विकास का साधन है वैसे प्राणिसेवा भी आत्मविकास का अनि-

धार्य साधन है। और प्राणिमात्र के साथ ऐक्य के कारण ही आत्महित और लोकहित का सुमेल है अथवा स्वदया के साथ परदया जुड़ी हुई है। शास्त्र में विश्व के प्रत्येक प्राणी का ऋण साधक पर बताया है। ठाणांगसूत्र में छकाया (प्राणिमात्र), गण (संघ या समाज), और राजा का उपकार साधक पर है, ऐसा स्पष्ट बताया गया है। इसलिये साधक का कर्तव्य होजाता है कि वह इस उपकार या ऋण को उतारने के लिए प्रत्युपकार करे। प्रत्युपकार का या ऋण उतारने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है, विश्व के प्राणियों को नीति या धर्म के रास्ते लगाकर उनकी विषमता और दुःख दूर करने का प्रयत्न करे, विश्व की व्यवस्था का संतुलन करे। और यह कार्य अनुबन्धसाधना के द्वारा ही हो सकता है। इससे समझा जा सकता है कि विश्व के ऋण से मुक्त होने के लिए अनुबन्धसाधना कितनी जरूरी है।

विश्व में सत्य प्रेम, न्याय आदि रूप धर्म को प्रसारित करने लोकजीवन में उसे सक्रियरूप देने के लिए समस्त समाज, राष्ट्र या विश्व की नैतिक चौकी रखकर बिगड़े हुए अनुबन्ध को सतत सुधारने व टूटे हुए को जोड़ने का कार्य करे, यह साधुसाध्वियों के लिए, श्रमणों के लिए सच्चा श्रम है। इस अनुबन्धसाधना के द्वारा समाज में सत्य, प्रेम, न्याय आदि का उत्पादन करना उनके लिए सतत अनिवार्य श्रम है। और यह श्रम अनुबन्धसाधना द्वारा ही ठीक तरह से हो सकता है।

अनुबन्धसाधना महाव्रती श्रमण के लिए तो मुख्यतः स्वधर्म है। क्योंकि स्वधर्म में प्रत्येक क्रिया को ध्येय की कसौटी पर या विश्वात्महित की कसौटी पर कसनी पड़ती है, जबकि परधर्म में तो दुनियादारी की दृष्टि या पौद्गलिक दृष्टि से प्रत्येक क्रिया की जाती है। अनुबन्ध में और सम्बन्ध में यही तो अन्तर है। अनुबन्धसाधना में प्रत्येक क्रिया ध्येय या विश्वात्महित की कसौटी पर कस कर की जाती है,

जबकि सम्बन्ध में पौद्गलिक या दुनियादारी की दृष्टि से किया जाती है। इसलिए अनुबन्धसाधना स्वधर्म सिद्ध होती है। साथ ही पुराने मूल्यों को हटा कर नये मूल्यों की स्थापना का युगधर्म का कार्य भी अनुबन्धसाधना द्वारा ही होसकता है।

साधक को विश्व को प्रभु मानकर-व्यक्त ईश्वर-मानकर उसकी भक्ति करने के लिए अपने आपको विश्वात्ममें अर्पण करना होता है। मतलब यह कि त्यागी साधक पदार्थों के प्रति अपनी ममता, अहंता, तृष्णा आदि का त्याग करके अपने व्यक्तित्व को विश्वात्म में समर्पित करता है; तभी समस्त चेतनतत्त्वरूप में वह एकता का अनुभव कर सकता है। यानी व्यक्ति के रूप में उस साधक के भिन्न होते हुए भी जैसे छोटासा झरना अपने को महासागरमें मिलादेने के बाद अपना कुछ नहीं रखता, उसी तरह इस साधक के भी खुद को विश्व-महासागर में मिला देने पर 'यह स्व है यह परहै' ऐसी उसको भेद बुद्धि रहती नहीं है। क्योंकि पुद्गलबुद्धि छोड़ देने पर उसे सर्वत्र आत्मा ही आत्मा नजर आती है। ऐसा होने पर अनुबन्धसाधना उसके लिए अनिवार्य हो जाती है क्योंकि अब विश्वमहासागर में एक छोटा-सा आन्दोलन भी उसके लिए अज्ञेय या अवेद्य नहीं रहता और विश्व की प्रत्येक क्रिया के साथ वह सुमेल करने का अथक प्रयत्न करता है। अतः मन, वाणी और कर्म द्वारा उसे सत्य-अहिंसा आदि के प्रयोग सतत करने पड़ते हैं जो अनुबन्ध के बिना हो नहीं सकते। अब उसको 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्ड (जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है) की अवरोध अनुभूति अनुबन्ध द्वारा होने लगती है। इसी कारण वह अपनी कोई भी चेष्टा विश्व से गुप्त नहीं रखता।

अनुबन्धसाधना के बिना व्यक्तित्व को विश्वात्म में समर्पण करने का सक्रिय रूप दृष्टिगोचर नहीं होता।

अनुबन्ध की सिद्धि भी तब समझी जाती है जब साधक अपने को विश्वात्म में पूर्णतः विलीन कर देता है। 'अप्पाणं वोसिरामि' (अपने आपको व्युत्सर्ग करता हूँ, अर्पण करता हूँ विलीन करता हूँ) की अर्पणता-भावना के लिए भी अनुबन्धसाधना कारणरूप है। यानी अर्पणतारूप भक्ति, आत्मव्युत्सर्गरूप सामायिक व प्रभुसेवा आदि सभी गुण अनुबन्ध-साधना द्वारा विकसित होते हैं।

अनुबन्धदृष्टि का पूर्ण विकास होने पर साधक की दृष्टि में प्रत्येक प्राणी में प्रभु के सहज दर्शन होने लगते हैं।

> 'जले विष्णु स्थले विष्णु विष्णुः पर्वतमस्तके ।
> विष्णुमालाकुले लोके सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥'

इस श्लोक के अनुसार उसे जल, स्थल, पर्वत, तथा समस्त लोक विष्णुमय नजर आता है। 'सियाराममय सब जग जानी' वाली दशा हो जाती है। 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' की तरह सर्वत्र ब्रह्म ही उसे दृष्टिगोचर होता है। उसका स्वरूप 'सव्वभूयप्पभूय (सर्वभूतात्मरूप) होता है। जैसे सचेतन शरीर में खून सर्वत्र फिरता रहता है वैसे ही अनुबन्धदृष्टिसम्पन्न पुरुष को जगत् में सर्वत्र चेतना ही चेतना दिखती है। सन्त सखूबाई को आग धौंकने की क्रिया में भी योगेश्वर कृष्ण की प्रतिच्छाया करने का आकर्षण होता है। कबीरसाहब चादर बुनते बुनते ईश्वर को उस चादर में देख सकते थे। रामानन्द ने पतितशिशु में भी अलौकिक सौन्दर्य देखा था। नरसी मेहता ने एक कुत्ते में भगवान का स्वरूप देखा था। महात्मा गांधीजी ने गोडसे द्वारा छोड़ी हुई गोली में भी राम के दर्शन किये थे। ऐसी पारदर्शक दृष्टि अनुबन्धसाधक की हो जाती है। इसी प्रकार अनुबन्ध में 'एगं जाणइ से सव्वं जाणइ (एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है) का साक्षात्कार होता है। एक अनुबन्ध विज्ञान को पूरी तरह समझ लेने, सावधानीपूर्वक प्रयोग कर लेने

पर समस्त प्राणियों का ज्ञान हो जाना कठिन नहीं है। व्यक्तिगत जीवन में कोई साधक सबको जान लेता है उसका जरूर कहा जाता है परन्तु विशिष्ट सर्वज्ञ या विश्ववत्सल सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता। इसी कारण जैनतत्त्वज्ञान में ऐसे विश्ववत्सल सर्वज्ञ अरिहंतोंको सर्वज्ञ प्रथम नमस्कारमात्र लिखे हैं। भ० महावीर उनमें से एक थे। उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त करने से पहले व्यक्तिगत साधना पर विशेष ध्यान दिया, किन्तु केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद वे अपने देहावसान तक विश्व-समाज के साथ अनुबन्धसाधना में सतत एकाग्र रहे और चारों श्रमण-संस्था को उन्होंने जीवन और जगत् का अनुबंध करने के लिए स्थापित की।

व्यक्ति समाज का एक अंग है, यह बात सही है, किन्तु अनेक व्यक्ति अलग-अलग रूप से किसी एक सत्य मूल्य का स्वीकार कर लें, इससे वह सामाजिक मूल्य नहीं बन जाता। इसी प्रकार जीवमात्र को ईश्वरीय अंश कहा गया है किन्तु संसारी जीवों के अलग-अलग योग से उनमें ईश्वरत्व नहीं आजाता। ईश्वरत्व या भगवत्त्व उसी में आसकता है जो संसार के समस्त प्राणियों के साथ अनुबन्ध जोड़ कर विश्व में सामाजिक मूल्य का निर्माण कर सकते थे। इसीलिये श्रुति में 'पूर्ण मिदं पूर्णमदः पूर्णात् पूर्णमुदच्यते (यह पूर्ण है वह पूर्ण है, पूर्ण में से पूर्ण निकाला जाता है) यह वाक्य कहा गया है।

महावीर, बुद्ध राम और कृष्ण इन चारों महामानवों ने अगर व्यक्तिगत साधना ही की होती तो कोई इन्हें भगवान् के रूप में संबोधित नहीं करता। इसी प्रकार महात्मा गांधीजी भी इस युग में भागवत्कृत्य के प्रारम्भिक निमित्तरूप थे। यद्यपि उन्होंने इस भाग वत्कृत्य की सिर्फ शुरूआत ही की थी, लेकिन वह शुरूआत हजारों वर्षों के बिगड़े हुए अनुबन्ध को सुधारने में बुनियादी कार्य दे सकता है। वे सब महापुरुष कर्मनिष्ठ होते हुए भी अपने अपने युग में भागवत्कृत्य

के निमित्त इसलिये बने कि उन्होंने विश्व के साथ अनुबन्ध जोड़ने में और सामाजिक मूल्यों की सृष्टि करने में अपना सारा जीवन लगा दिया था। इससे अनुबन्धसाधना मोक्षरहस्य का प्रबल निमित्त कारण सिद्ध हो जाता है।

जैनतत्त्वज्ञान में सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिल कर मोक्षमार्ग बतलाये गये हैं। वैष्णवतत्त्वज्ञान में ज्ञान, कर्म और भक्ति ये तीनों मुक्तिपथ बताए हैं। अनुबन्धसाधना में उपर्युक्त तीनों आ जाते हैं। क्योंकि भक्ति या दर्शन उसे ही कहते हैं, जिसमें संसार से विभक्ति (पृथक्करण) न हो, अपितु समस्त जीवों के प्रति विश्ववात्सल्यदृष्टि हो। सच्ची दृष्टि या भक्ति होने पर ही मोक्षमार्ग का ज्ञान सम्यक् होता है और सम्यक्ज्ञान होने पर चारित्र या कर्म सम्यक् हो सकता है। जिसे मार्ग का ज्ञान या दर्शन न हो, वह उस मार्ग पर पर ठीक तरह से चल ही कैसे सकता है? इसलिए अनुबन्ध (ध्येयानुकूल सम्बन्ध) की दृष्टि या परिपूर्ण श्रद्धा, फिर अनुबन्ध का ज्ञान और तत्पश्चात् अनुबन्ध का आचरण-कर्म ये तीनों होने पर ही सही साधना हो सकती है। इसे हम व्यापकरूप में मोक्षमार्ग की साधना कह सकते हैं।

मनुष्य में व्यक्तित्व भी है और समष्टित्व भी। इन दोनों अंशों का अनुबन्ध हुए बिना पूर्णता की कल्पना अधूरी है। अनुबन्ध साधना द्वारा इन दोनों का समन्वय ठीक तरह से हो सकता है। साथ ही अनुबन्धसाधना में विश्व के साथ वात्सल्य का प्रयोग करना अनिवार्य होने से प्रवृत्ति सहज ही आजाती है और निवृत्तिमार्ग में रही हुई शुष्कता या जड़ता नहीं घुसती। इसी प्रकार इसमें सर्वत्र वात्सल्य-सृष्टि करने का ध्येय होने से अनुबन्धसाधक को कोई एक व्यक्ति, पदार्थ, क्षेत्र, काल या अमुक एक भाव बांध भी नहीं सकता इसलिये निवृत्ति भी सहज ही संभव है। इस प्रकार प्रवृत्ति-निवृत्ति-समन्वय।

इस साधना में है। साथ ही अनुबन्धसाधना में आत्मलक्ष्य होने से प्रवृत्तिरूपी निवृत्ति होती है तथा विश्ववत्सल होने से निवृत्तिरूपी प्रवृत्ति करनी पड़ती है। इसलिए (असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ति य जाण चारित्त) अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्तिरूप चारित्रधर्म का पालन अनुबन्धसाधना में हो ही जाता है।

व्यक्ति का संस्था, समाज और समष्टि के साथ अनुबन्ध क्यों?

कुछ साधकों या विचारकों का मत यह है कि मोक्ष व्यक्ति के लिए ही बताया गया है, नवसंस्था या नवसमाज के निर्माण में व्यक्ति तीर्थंकर जैसे ही अग्रभाग लेते हैं, तब फिर यह सवाल होगा कि संस्था, समाज या समष्टि की चिन्ता किये बिना व्यक्ति अपनी साधना स्वयं ही क्यों नहीं करता? क्या संस्था, समाज या समष्टि के साथ अनुबन्ध किये बिना व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता? और हमारे देश में ऋषिमुनि अध्यात्मवादी होने के कारण व्यक्ति, संस्था, समाज और समष्टि को सुव्यवस्थित करने के बदले सृष्टि और आदिशक्तियों की शोध में और रहस्य खोजने में लीन रहा करते थे, तब फिर अनुबन्धसाधना कब करते थे और उन अध्यात्मवादियों को अनुबन्धसाधना करने की जरूरत ही क्या थी?

उपर्युक्त शंका सामान्य व्यक्तियों तथा कभी बड़े बड़े साधकों के मन में उठा करती है। सर्वप्रथम यह सोचना होगा कि व्यक्ति जिस आध्यात्मिक साधना के लिए तत्पर हो रहा है, उसका इतना विकास क्या अकेले रहने से ही होगया या अन्यप्राणियों के सहयोग से हुआ है? मेरे नम्रमत से तो व्यक्ति और समाज इन दोनों को बिलकुल अलग-अलग सोचा ही नहीं जासकता। कोई विरला व्यक्ति समाज का निर्माण करता है, परन्तु सामान्यरूप से तो प्रत्येक व्यक्ति का निर्माण समाज करता है। व्यक्ति जैसे समाज का अंग कहा जाता है, उसी प्रकार समाज भी व्यक्ति का अंग है, यह निःसंकोच नहीं

परिवर्तन किए जासकते हैं परन्तु पद–पद पर उन्हें नहीं बदला जासकता। नहीं तो, संस्था की स्थिरता डांवाडोल हो जाय। संस्था शब्द से स्थिरता अर्थ का सूचन होता है, किन्तु उस के साथ 'सम्' उपसर्ग होने से वह सम्यक्प्रकार की स्थिरता बताता है, कदिचुस्त जनमानस की स्थितिस्थापकता नहीं। भारतवर्ष में ऐसी संस्थाएँ मुख्यरूप से ये रही हैं:— (१) धर्मसंस्था (२) राज्यसंस्था, (३) प्रेरक (ब्राह्मण) संस्था (४) चातुर्वर्ण्यसंस्था इन सबका एक दूसरे के साथ अनुबन्ध था। इनके माध्यम से सारे समाज के साथ अनुबन्ध रहता था और समाज को व्यवस्थित रखने का कार्य साधकवर्ग द्वारा अच्छी तरह हुआ करता था। मानव समाज को प्रेरणा देकर या स्वयं रक्षण करके समष्टि के साथ भी अनुबन्ध बराबर रखता था। क्योंकि किसी भी साधक की प्रगति का मुख्य माप यही है कि वैदिक परिभाषा में पचभूतों और जैनपरिभाषा में एकेन्द्रिय जीवसमूहों यानी समष्टि की रक्षा वह कितनी करता है। एक गृहस्थाश्रमी साधक भी व्यक्तिस्वातन्त्र्य और समाजस्वातन्त्र्य का समतौल रखकर सुयोग्य संस्था को अन्दर या बाहर रह कर, प्रेरणा या समर्थन देकर समष्टि का भी किस प्रकार कल्याण कर सकता है, यह गांधीजी ने अपने जीवन से प्रत्यक्ष सिद्ध कर बताया है। गांधीजी दांतुन के एक टुकड़े को कई दिनों तक चलाते थे। थोड़-से पानी से हाथ–मुंह और दांत साफ कर लेते थे। एक बार हाथ धोने के लिए कोई भाई मिट्टी का एक बड़ा ढेला उठा लाए, गांधीजीने थोड़ी–सी मिट्टी रखकर बाकी का ढेला यथास्थान डलवाया था। यह सब भलेही पानी, वनस्पति और पृथ्वी को निरर्थक खर्च न करने, न बिगाड़ने के खयाल से किया गया हो, फिर भी विश्ववत्सली सच्चे साधक का जीवन अपने आप ही ऐसा बन जाता है कि जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से समष्टि (छोटे-बड़े प्राणिमात्र) की रक्षा अनायास ही हो जाती है, उसकी जीवनसाधना से अनायास ही व्यक्ति, समाज, संस्था और समष्टि

का कल्याण होजाता है। इसलिए निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि पूर्णविकासलक्षी साधक के लिए व्यक्ति, समाज, संस्था और समष्टि के साथ अनुबन्धसाधना करना अनिवार्य है।

अनुबन्धसाधना पर कतिपय शंकाएं

कई साधक यह कहा करते हैं और प्रायः समाज में आमतौर पर यह मान्यता प्रचलित है कि साधुसंस्था को राजनीति, अर्थतंत्र या विज्ञान से क्या लेना-देना ? समाज के साथ कदाचित् उनका अनुबन्ध हो यह समझा जा सकता है पर राजनीति, अर्थतंत्र या विज्ञान जैसे अशुद्ध क्षेत्रों के साथ उसका अनुबंध तो किसी भी तरह समझ में नहीं आता। साधु ने संसार छोड़ा, घरबार त्यागा, फिर वापिस उसी सांसारिक पचड़े में वह पड़े यह किसी भी तरह से योग्य नहीं है।

इसका समाधान महात्मा गाँधीजी के एक प्रसंग से कर देना ठीक समझता हूँ। महात्मा गाँधीजी से जब काका कालेलकर ने पूछा 'बापू! आप राजनीति में क्यों पड़े ?' यह पूछने के पीछे शायद उनका यह खयाल रहा हो कि बापू जैसे आध्यात्मिक पुरुष धर्मक्षेत्र को छोड़ कर राजनैतिक क्षेत्र में पड़ गये, यह ठीक नहीं। गाँधीजीने उन्हें अपनी अनोखी शैली से उत्तर दिया-'काका ! अधर्म का सबसे बड़ा अड्डा राजनीति में जमा हुआ है, इसलिए मैं राजनैतिक क्षेत्र में पड़ा हूँ।' इस उत्तर के पीछे जो हेतु है, वह स्पष्ट है कि दुनिया भर में आज राजनीति का सबसे ज्यादा जोर है। और आज की राजनीति भी गंदी, मैली, धोखेबाजी और प्रपंचवाली बन गई। ऐसी स्थिति में आध्यात्मिक पुरुष का राजनीति से अनुबंध न रहे तो राजनीति में से गंदगी निकलेगी कैसे ? शुद्धि आएगी कैसे ? और राज्य को भी हम समाज का एक अंग मानते हैं, तब उससे दूर कैसे भागा जा सकता है ? हाँ, यह ठीक है कि साधुवर्ग राजनीतिक

पदों और प्रयोगों में न पड़े, राजनैतिक गंदगी में स्वयं न पड़े, किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में जो अशुद्धि प्रविष्ट होगई है, उसे दूर करने के लिए तो उसे अनुबंधसाधना करनी ही पड़ेगी। राजनीति में धर्म को प्रवेश कराना पड़ेगा। धर्म तो महासागर है, उसमें राजनीति, अर्थतंत्र आदि सभी समा सकते हैं। महात्मागांधीजी ने राजनीति में से गन्दगी निकालकर, स्वयं अनुबंधसाधना द्वारा सत्य-अहिंसारूप धर्म को प्रविष्ट कराया था। धर्मरहित राजनीति होगी, या राजनीति में अनुबन्ध बिगड़ जायगा तो उसकी अशुद्धि का असर धर्मसंस्था और साधुसंस्था पर भी पड़े बिना न रहेगा। भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक का इतिहास देखें तो मालूम पड़ेगा कि राज्य या राजनीतिक क्षेत्र के साथ धर्मसंस्था के उच्च साधकों का बराबर अनुबंध रहा है और उन्होंने राज्य और राजनैतिक क्षेत्र में बिगड़े हुए, टूटे हुए अनुबन्धों को सुधारने व जोड़ने का प्रयत्न किया है। भ० ऋषभदेव का उदाहरण तो हम पीछे दे आए हैं। भ० राम के समय में वशिष्ठ गुरु, विश्वामित्र और वाल्मीकि का राज्यक्षेत्र के साथ पूरा अनुबन्ध था। इसी कारण वे अयोध्या के राज्य को धर्मपुनीत रख सके। लंका के राज्य में रावण की तानाशाही के कारण अनुबन्ध बिगड़ा था, किन्तु रामचन्द्रजी ने विभीषण जैसे न्यायनीतिप्रिय व्यक्ति के हाथ में लंका का राज्यतंत्र सौंपकर उसका अनुबन्ध सुधार दिया। कर्मयोगी कृष्ण के युग में यद्यपि राज्य के साथ द्रोणाचार्य, विदुर, कृपाचार्य जैसे ब्राह्मणों का सम्बन्ध रहा, परंतु वह स्वार्थसम्बन्ध था, अनुबंध नहीं इसी कारण अनुबंध बिगड़ा और फलस्वरूप नैतिक प्रेरणा न मिलने के कारण दुर्योधन की सभा में पाँचों पाण्डवों और द्रोणाचार्य आदि गुरुजनों के होते हुए महासती द्रौपदी के साथ दुःशासन लज्जाजनक व्यवहार करने लगा, किसी उसे कोई रोक न सका। और आखिरकार महाभारत का युद्ध फूट निकला। यह क्रम दुर्भाग्य न था। भगवान् महावीर के समय में [illegible] के साथ अनुबन्ध था,

कारण गणसत्ताक पद्धति के रूप में राज्य में संशोधन हुआ। यद्यपि उस समय भी कोणिक और चेटक राजा का हार व हाथी के लिये भयंकर संग्राम हुआ जिसमें एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य मारे गये। इसका कारण हम संयोग को ही कह सकते हैं। भ महावीर भी तो आखिर निमित्त ही थे। किन्तु यह कहना पड़ेगा कि भ० महावीरने साधुओं को राजनैतिक क्षेत्रमें धर्मप्रेरणा देने की बात 'राष्ट्रधर्म' 'विरुद्धरज्जाइक्कमे' आदि वचनों द्वारा प्रगट की है। गुजरातप्रदेश में जैनाचार्य हेमचन्द्रसूरि को राजनैतिकक्षेत्र को पवित्र करने के लिये कितने प्रयत्न करने पड़े थे? कुमारपालप्रकरण में कुमारपाल की राजगद्दी से पहले और बाद में एक साधुपुरुष के इतनी दिलचस्पी रखने में राजनीति में शुद्धि बढ़ाने के सिवाय और क्या कल्पना की जा सकती है? वनराज की माता को दुःख के समय आश्वासन देनेवाली जैनसाध्वी और आचार्य शीलगुणसूरि में भी धर्मवृद्धि के सिवाय और क्या कारण था? सम्प्रति राजा को प्रतिबोध देनेवाले आचार्य सुहस्तिगिरिजी-में राजनीति की शुद्धि और राज्यक्षेत्र में धर्म के प्रवेश के सिवाय और कौनसी दृष्टि थी? समर्थगुरु रामदास का शिवाजी जैसे वीर पुरुष के साथ अनुबन्ध राज्यक्षेत्र की शुद्धि के सिवाय और किस कारण से था? अगर साधकगण यह चाहते हों कि राज्यशासन धर्मशासन के अधीन रहे तो इसके लिए श्रेष्ठ उपाय राज्य के साथ धर्म का अनुबन्ध कराये बिना और क्या होगा? अन्यथा, नतीजा यह होगा कि राज्यसंस्था धर्मसंस्थाओं को अपने अधीन लेकर या धर्मसंस्थाओं पर अपना प्रभाव डाल कर नये-नये धर्मविरोधी कानून-कायदे बनायेगी, हिंसा के कार्य करायेगी, पशुहिंसा के द्वारा मांसाहार का प्रचार करायेगी, तब चेतने की अपेक्षा साधकों को समय रहते चेत कर राजनीति को धर्म के अंकुश में रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

साथ ही राजनीति के पदप्रतिष्ठा प्रलोभनों से स्वयं दूर रह कर धर्मगुरुओं को राजनीति की गतिविधि से पूरा जानकार रहना चाहिए, और

अनुबन्ध-साधना द्वारा राजनीतिक क्षेत्र को सुव्यवस्थित और शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। आज तो लोकतन्त्रीय राज्य है। इसलिए लोकतन्त्र में प्रजा का निर्माण किए बिना, लोकतन्त्र सफल नहीं हो सकता। इसलिए आज की राजनीति में प्रजा और राज्य दोनों को शुद्ध रखने की जिम्मेदारी साधुसतों की है।

अर्थतन्त्र से जब से साधुसस्था ने किनाराकशी की है, अनुबन्ध तोड़ा है, तब से उसमें अन्याय, अनीति, शोषण चोरबाजारी, अप्रामाणिकता आदि अनिष्ट बढ़े ही हैं। बल्कि इन अनिष्टों को प्रोत्साहन देने में तथा अर्थतन्त्र के साथ धर्म का अनुबन्ध बिगाड़ने में प्राय साधुसतों ने अनीतिमान शोषणजीवी धनिकों को छिछली बाह्य धर्मक्रियाएँ करने मात्र से धर्मात्मा, पुण्यवान, भाग्यवान, दानवीर, सेठ आदि का मौखिक खिताब देकर प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से भाग लिया है। सक्षपन्दों में कहें तो प्राय साधुसतों ने इस प्रकार अर्थतन्त्र की शुद्धि से किनाराकशी करके परिग्रहवाद या सत्तावाद को फलने-फूलने का अवकाश दिया है। यद्यपि भ० ऋषभदेव से लेकर भ० महावीर तक के जैन इतिहास से यह बात स्पष्ट साबित हो चुकी है कि जैनतीर्थकरों, जैनाचार्यों, और जैनसाधु साध्वियों ने आर्थिक क्षेत्र से धर्म का अनुबन्ध जोड़ कर (तेनाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्धरज्जाइक्कमे, कूडतुलकूडमाणे तप्पडिरूवगववहारे) चोर की चुराई हुई वस्तु लेने, (कालाबाजार से लेने व०), चोर को चोरी में प्रेरित करने (रिश्वत आदि देकर) राज्य के कानूनविरुद्ध व्यापारादि कर्म करने, तौलने-मापने में बेइमानी करने, वस्तु में मिलावट करने, एक वस्तु दिखाकर दूसरी वस्तु देने आदि श्रावक के तृतीय अणुव्रत के दोष बता कर या १५ प्रकार के राष्ट्रघातक, समाजघातक, मानवशोषक एव प्राणिसहारक धधों का मतीश्रावक के लिए सर्वथा निषेध करके सातवें-आठवें व्रत द्वारा अपने साधनों और धन आदि की सीमा का निर्देश करके, बारहवें व्रत द्वारा अपने पास के शुद्धसाधनों

मैं से सविभाग करने का बता कर आर्थिक क्षेत्र में पूरी शुद्धि रखाने की कोशिश की है। तब फिर आज के साधुसाध्वियों को आर्थिक क्षेत्र के साथ धर्म का अनुबन्ध जोड़ कर न्याय, नीति, ईमानदारी, सत्य, सहकार, दान, सविभाग आदि धर्मप्रेरणा करने में नुकसान ही क्या है ? बल्कि ऐसा न करने से अन्यायोपार्जित वित्तवाले के यहाँ से भिक्षा लेने से साधुगण के मानस पर भी उसका बुरा असर पड़ने का अंदेशा है। इसलिए आर्थिक क्षेत्र के साथ भी साधकों का अनुबन्ध होना आवश्यक है। साधुसाध्वियों को आर्थिक क्षेत्र से अनुबन्ध जोड़ते समय स्वयं अर्थ के हिसाबकिताब या लेनदेन में नहीं पड़ना चाहिए। अपनी प्रेरणा से चलनेवाली संस्था के लिए कोई खुशी से सहयोग दे तो वह संस्था स्वाभिमानपूर्वक उसे स्वीकार करे, पर किसी की खुशामदी या प्रशंसा करके नहीं क्योंकि साधक को पूँजीवाद की प्रतिष्ठा तोड़नी है, जमानी नहीं है। अगर वह इतना ध्यान नहीं रखेगा तो अर्थक्षेत्र के साथ अनुबन्ध के बदले मोह-सम्बन्ध कर बैठेगा। किसी भी सम्प्रदाय या धर्म के साधक को सख्यावृद्ध के मोह में पड़ कर या दीक्षामहोत्सव, तपोमहोत्सव, विद्याध्ययन वगैरह काम निकलवाने के लिए किसी अनीतिमान, धनिक के लिहाज में नहीं पड़ना चाहिए। बल्कि जहाँ कहीं भूल हो, अधर्म नजर आता हो, वहाँ समाज को या उस धनिक को सावधान करना चाहिये। सत्य कहने में किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। साधुवर्ग ने मध्ययुग में आर्थिक क्षेत्र में गड़बड़ होती देखकर या असत्य चलते देखकर आँखमिचौनी की उसका ही नतीजा हम आज देख रहे हैं कि आर्थिक क्षेत्र पर सरकार कब्जा करने लगी है। यद्यपि अब कुछ साधुओं की नींद जरूर उड़ी है, पर देखें अब क्या होता है !

अब रहा विज्ञान के साथ आध्यात्मिक साधकों के अनुबन्ध का प्रश्न। सो इसके सम्बन्ध में तो हम भारतीय इतिहास द्वारा कह

सकते हैं कि प्राचीनकाल से भारत का विज्ञान धर्मगुरुओं के अधीन रहा है। उन्होंने विज्ञान को धर्म और नीति की सीमारेखा में ही रखने का प्रयत्न किया है। जब भी विज्ञान धर्म और नीति की सीमा रेखा का उल्लंघन करने लगा, तभी उन्होंने उसका विरोध किया है, उसको रोका है। भ. महावीर के द्वारा श्रावकों को बतलाया हुआ दिशापरिमाणव्रत, देशावकाशिकव्रत उपभोग परिभोगपरिमाणव्रत, १५ कर्मादानों में यंत्रपीडनकर्म (यन्त्रों के द्वारा जहाँ मानवपीडन यानी अत्यन्त मानवशोषण होता हो ऐसे व्यवसाय) का निषेध, स्फोटकर्म (जहाँ खान खोदने के लिए दारु गोले आदि द्वारा जमीन को फोड़ा जाता हो, ऐसे व्यापार) का निषेध आदि उसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। उपभोग और परिभोग के लिए विज्ञानकृत साधनों या निरर्थक साधनों को कम करने के लिए अनर्थदण्डविरमणव्रत बताया ही है। यद्यपि प्राचीनकाल में विमान, उड़नखटोले आदि तथा मानवसंहारक आग्नेयास्त्र, तथा वारुणास्त्रादि विज्ञानकृत साधन थे, पर उनका उपयोग काफी मर्यादित होता था। आज तो हम रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में—धर्म और विज्ञान का इस युग में सुमेल नहीं रहा। विज्ञान आगे बढ़ गया है और धर्म पीछे रह गया है, वाली बात यथार्थ सिद्ध हो गई है।

यह कहना कि विज्ञान का धर्म या धर्मसाधकों के साथ मेल नहीं बैठ सकता गलत है। जगत में जो-जो धर्मसंस्थाएँ पैदा होती हैं, उनके मुख्य दो काम होते हैं (१) परिस्थिति के अनुसार नये आचार-विचार देना (२) विज्ञान के साथ मेल बिठाना। अपने युग के साथ मेल बिठाए बिना कोई भी धर्मसंस्था या साधुसंस्था टिक नहीं सकती। जब धर्म और विज्ञान का मेल टूटता है तब धर्मसंस्था या धर्मसाधकसंस्थाओं में रूढ़िग्रस्तता व अन्धश्रद्धा आजाती है, क्योंकि धर्म-परिवर्द्धन रुक जाता है वे युगबाह्य होजाती हैं। इसलिए विज्ञान धर्म-संस्था या साधुसंस्था के लिए उपकारक का काम करता है। धर्म

संस्था और विज्ञान परस्पर पूरक हैं धर्मसंस्था को विकसित करने में विज्ञान का हाथ है। विज्ञान का काम कमाने यानी सुखसाधन की सामग्री उपार्जन करने का है धर्म का काम उसकी न्यायोचित व्यवस्था करने का है। कमाया न जाय तो व्यवस्था का आधार ही टूट जाय, इसी प्रकार न्यायोचित व्यवस्था न की जाय तो कमाना मिट्टी में मिल जाय। यद्यपि राज्यसंस्था भी व्यवस्थाकार्य करती है, पर उसका मुख्य आधार दण्डशक्ति है जब कि धर्मसंस्था का मुख्य आधार समझाकर संस्कारशक्ति है।

राज्यसंस्था का कार्य बाहर है और धर्मसंस्था या साधुसंस्थाका कार्य भीतर है। जनता को नम्र, शान्त, कृतज्ञ, न्यायी, परोपकारी या दयालु बनाने के काम राज्यसंस्था द्वारा कानून से नहीं कराए जासकते, धर्मसंस्था द्वारा कराए जा सकते हैं। इसलिये धर्मसंस्था के साथ राज्यसंस्था या विज्ञान का कोई विरोध नहीं है। परन्तु जब धर्मसंस्था के साधकों का विज्ञान या राज्यसंस्था की गतिविधि की ओर दुर्लक्ष्य होता है, तब विज्ञान या राज्यसंस्था धर्मसंस्था पर हावी होजाती हैं। उस समय विज्ञान का दुरुपयोग धर्म और विज्ञान दोनों को बदनाम कराता है। इसलिये विज्ञान और वैज्ञानिकों के साथ धर्मगुरुओं का अनुबन्ध रहे तो वे विज्ञान के साथ आत्मज्ञान को जोड़ सकते हैं, और वैज्ञानिकों के दिल में भी प्राणिहित की वृत्ति जगा सकते हैं। फिर उन वैज्ञानिकों के द्वारा नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार होंगे, उनके पीछे प्राणिहित की दृष्टि होगी। इस प्रकार विज्ञान और वैज्ञानिकों के साथ साधुओं का अनुबन्ध जुड़ जाने पर वे उसका दुरुपयोग करने, नरसंहारकारी साधनों के रूप में उपयोग करने से तथा मानवशक्ति का ह्रास करने वाले साधनों के रूप में उपयोग करने से रोक सकते हैं। आमजनता को भी विज्ञानकृत सामग्री का उपयोग करने में धर्म और नीति को हृदय में रखने का उपदेश वे दे सकते हैं। आज तो वैज्ञानिकों की कोई धर्म-

गुरुओं के हाथों में न रह कर राज्यसूत्र के संगठकों और राजनीतिज्ञों के हाथों में चली गई है। इसलिये जब तक धर्म का असरकारक प्रभाव खड़ा न होजाय तब तक धम को विज्ञानवेत्ताओं से खतरा ही है। और असरकारक प्रभाव खड़ा करने के लिये विज्ञान के साथ साधुसंस्था को अनुबन्ध जोड़ना ही चाहिये। असल में विज्ञान, साहित्य और धर्म ये तीनों ही मानवजाति के विकास के लिए सुन्दर साधन हैं, पर आज ये धर्मलक्षी नहीं रहे, या इनके पीछे धर्मबुद्धि न रही अथवा धर्म के साथ इनका अनुबन्ध टूट गया, इसी कारण ये राज्याश्रित होगये। दुर्भाग्य से कई देशों में तो धर्म भी राज्याश्रित हो गए हैं। चीन, जापान और युरोप में धर्मस्थानों में राजा की रक्षा के लिये की गई ईश्वरप्रार्थना इसका नमूना है। स्वतन्त्र भारतवर्ष जरूर इसके लिए अपवाद हो सकता है। पर उसका श्रेय महात्मा गांधीजी को है जिन्होंने अपनी काया घिसकर सत्य-अहिंसारूप धर्म का प्रभाव राजकीयसंस्था पर डाल कर विज्ञान और राजनीति दोनों को धर्माश्रित करने का प्रयास किया।

इस प्रकार राजनीति, अर्थ और विज्ञान इन तीनों क्षेत्रों के साथ धर्मगुरुओं द्वारा विश्वव्यापक धम का अनुबन्ध होना चाहिए और धर्मगुरुओं को उनकी अशुद्धि दूर कर उन्हें शुद्ध करने के प्रयत्न करना चाहिये। तभी महात्मा गांधीजी का अधूरा रहा हुआ कार्य साधुसंस्था कर सकेगी और समाज को व्यवस्थित रख सकेगी। अगर साधु-साध्वियों द्वारा विश्वभर में अहिंसा, सत्य, न्यायादि के प्रयोग न हुए तो विज्ञान, राजनीति और अर्थतन्त्र पर धर्म का विजय न होगा। फलतः विश्व जनता इनके त्रास से दुःखी होगी, परम्परा से सारा प्राणिजगत् दुःखी होगा। जैसे आज के युग में इन क्षत्रों में धर्म के अभाव से सभी मानव और प्राणिजगत् दुःखी हो रहे हैं। इसलिये व्यक्ति, समाज, संस्था और समष्टि के साथ साधुसंस्था का अनुबन्ध जोड़ना विश्वसुखवर्द्धक है, विश्वहितकर है।

कोई यह कहे कि इस देश में महावीर, बुद्ध, राम और कृष्ण ये चार महापुरुष हुए, विश्व में भी ईसामसीह, हजरतमुहम्मद तथा जरथुस्त जैसे महात्मा हुए, अन्त में विश्ववन्द्य गांधीजी भी हुए, परन्तु जगत् वैसा का वैसा रहा, इसमें कोई परिवर्तन हो हुआ नहीं, पर हम इस बात से सहमत नहीं। क्योंकि जगत् का आज तक जो विकास हुआ है, जो परिवर्तन हुआ है, सुखसमृद्धि बढ़ी है, उसमें अनेक महापुरुषों का हाथ रहा है। जगत् में सुर और असुर दोनों रहेंगे, अच्छी और बुरी दोनों चीजें रही हैं और रहेंगी। फिरभी जब ऐसे महापुरुषों के प्रयत्न होते हैं तो सुव्यवस्था स्थापित हो जाती है। यद्यपि ऐसे समय में भी बुराइयाँ या बुरे लोग भी रहते हैं, पर उनका परिमाण कम हो जाता है। ऐसे योग्य अनुबन्धकारों के प्रयत्नों से वे या तो अच्छाइयों के रूप में बदल जाती हैं, या दब जाती हैं यानी उनकी प्रतिष्ठा टूट जाती है। पुराने गलत मूल्यों के स्थान पर नये अच्छे मूल्य स्थापित हो जाते हैं। आज तक का विश्व-इतिहास देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विशिष्ट बुद्धिशाली अनुबन्धकारों के प्रभाव, बलिदान और कार्य निष्फल नहीं जाते।

अनुबन्धकार कौन, क्यों और कैसे?

इतने विवेचन के पढ़ने के बाद सहज ही यह प्रश्न होता है कि आज के युग में ऐसा अनुबन्धकार साधक कौन हो सकता है? क्यों और कैसे हो सकता है? उत्तर में यों कहा जासकता है कि अनुबन्धसाधना के विभिन्न दृष्टिकोणों को देखते हुए मुख्यरूप से निम्नलिखित योग्यतावाला साधक अनुबन्धकार हो सकता है:—

(१) जिसने पृथ्वी, पानी हवा और वनस्पति तक में जीव मान कर जगत् के छोटे-से छोटे जीव के प्रति भी सूक्ष्मरूप से अहिंसा का आचरण सिद्ध कर बताया हो।

(२) जो व्यक्तिगत साधना में अपने को बन्द न करके सामूहिक साधना में मानता हो, मानी जो व्यक्तिवादी न बन कर संघवादी दृष्टिवाला हो। और जगत् से कम से कम लेकर अधिक से अधिक देता हो।

(३) जिस साधक की संस्था ने भूतकाल में क्रांतिप्रियता का आदर्श सिद्ध किया हो।

(४) जिस साधक की संस्था धर्मदृष्टि से समाजरचना में मानती हो और उसके लिए मानवजीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म को प्रवेश कराने के लिए अनुबंधसाधना में मानती हो। और इसके लिए जो सर्वधर्मसमन्वय में विश्वास रखता हो।

(५) जो साधक सिद्धान्त के लिए प्रिय प्राणों को होमने को तैयार हो। जो समाज राष्ट्र या विश्व में अहिंसा और शान्ति के लिए प्राणों की बाजी लगाने को तैयार हो।

(६) जो समय आने पर अपनी संचित प्रतिष्ठा को लात मारने के लिए तैयार हो, किसी भी प्रलोभन या भय के आधीन न होकर सच्ची बात कहने में प्रतिष्ठा जाती हो तो भी जिसे संकोच न होता हो।

(७) जिसने अपने घरबार छोड़ दिये हों, मातापिता, सगे सम्बन्धियों धन माल आदि सबको छोड़ दिया हो किन्तु साधुजीवन में भी जिसे अब सम्प्रदायमोह, शिष्यशिष्यामोह, अनुयायिमोह, प्रतिष्ठामोह, उपाश्रयादि धर्मस्थानों का मोह, धर्मोपकरणमोह या शरीरमोह आदि परिग्रह न हो। और इसके लिए तपस्या और त्याग करने में अभ्यस्त हो।

(८) जो पूर्ण ब्रह्मचर्य पालता हो और अपनी ब्रह्मचर्यशक्ति का उपयोग विश्व (प्राणिमात्र) को अपनी सन्तान मान कर उसे सुखकारी बनाने, उसका निर्माण करने और उसकी सुरक्षा करने का कार्य वात्सल्य सींच कर करता हो।

इन सब गुणों के अतिरिक्त कुछ और खास गुण हैं, जो अनुबन्धकार में होने जरूरी हैं —

(१) अनुबन्धकार की दृष्टि व्यापक सर्वांगीण और विश्वविशाल होनी चाहिए।

(२) उसके सामने ध्येय का स्पष्ट चित्र होना चाहिए।

(३) मार्गदर्शन देने की उसकी नीति स्पष्ट होनी चाहिए।

(४) विचार और आचार दोनों दृष्टि से उसका जीवननिर्माण हुआ हो।

(५) वह सारे विश्व का कुटुम्बी होने से किसी एक सम्प्रदाय, कुटुम्ब, जाति राष्ट्र, समाज, प्रान्त या भाषा आदि का झूठा पक्ष न लेता हो और न इनके नाम पर मानव–मानव में भेदभाव बढ़ाता हो।

(६) सिद्धान्त या सत्य पर दृढ़ रहने का गुण होना चाहिए।

(७) अनुबन्ध जोड़ते समय आनेवाली आफतों, विपत्तियों को शान्ति, धैर्य और निर्भयतापूर्वक सहन करनेवाला हो।

(८) कायोत्सर्ग का रहस्य जान कर कायोत्सर्ग या बलिदान के लिए तैयार हो।

(९) अर्पणता, त्याग, आन्तरिक वीरता आदि गुण हों।

(१०) अनुबन्धस्थापना करते समय तादात्म्य और ताटस्थ्य का ठीक विवेक हो।

(११) आत्मानुबन्ध रखते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देख कर विभिन्न लोगों की अलग–अलग कक्षाओं के अनुसार अलग अलग और स्पष्ट मार्गदर्शन, प्रेरणा, सुझाव और सलाह, व्यक्ति, समाज और समष्टिरूप विश्व तक को देने की कला हो।

(१२) केन्द्र में अनासक्ति रख कर प्रवृत्ति और निवृत्ति करने का ज्ञान हो।

(१३) लोकसंग्रह का गुण होना चाहिए। उसके लिए अगर वह भिक्षाजीवी हो तो उसका भिक्षा का क्षेत्र सिर्फ एक सम्प्रदाय तक ही सीमित न रह कर व्यापक हो, व्याख्यान, प्रेरणा या मार्गदर्शन का क्षेत्र भी व्यापक हो ˆदनप्रवास करता हो तो उसका क्षेत्र भी व्यापक होना चाहिए।

इन सब योग्यताओं और गुणों को देखते हुये आज के युग में इस अनुबन्धकार के योग्यपात्र क्रान्तिप्रिय जैनसाधुसाध्वी ही ठहर सकते हैं। आज के जैनसाधुगण और जैनसमाज को देखने वाले व्यक्ति को शायद इसमें अतिशयोक्ति लगेगी। किन्तु गहराई से सोचने पर इसकी सत्यता मालूम हो जायगी। अगर लोकसंग्रह की ही बात होती तो बौद्धसाधु या स्वामीरामकृष्ण के साधु इसमें जैनसाधुओं से बाजी मार जाते। परन्तु यहाँ तो प्राण, प्रतिष्ठा और परिग्रह के त्याग की योग्यता को पहले अपेक्षा है। तथा तपत्याग के द्वारा जो लोकसंग्रह हो वही स्थायी होता है और वही यहाँ प्राप्य है।

जैनसाधुसंस्था के भव्य प्राण, प्रतिष्ठा और परिग्रह के त्याग में दूसरी साधुसंस्थाओं से आज भी बढ़े चढ़े हैं। क्योंकि जैनसाधुसंस्था के पास भूतकाल का भव्य इतिहास है। सिद्धान्त के लिये एक युद्ध में जुट कर प्राण होमने की तैयारी बताने वाले कालकाचार्य साधुसंस्था के सामान्य सभ्य ही नहीं, पर आचार्यपद पर रह सके थे। गजसुकुमाल अनगार, स्कन्दकमुनि, मेतार्य मुनि, धर्मरुचि अनगार, धर्मघोष आचार्य आदि साधुओं के बिदान के लिए प्राणत्याग के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। कोशावेश्या के यहाँ चातुर्मास बिताकर सिद्धान्त के लिये सामाजिक प्रतिष्ठा को भी छोड़ने को तैयार मुनि स्थूलिभद्र को समाज ने 'मङ्गलं स्थूलिभद्राद्या।' कह कर आज भी सर्वोच्च साधु के रूप में श्रद्धांजलि

अर्पित की जाती है। विष्णुकुमार मुनि समाज पर आए हुए अन्याय-अत्याचार को दूर करने के लिए अपना सर्वस्व त्याग करने को तैयार हो गए थे। भद्रबाहु स्वामी संघ आह्वान और साधु सम्मेलन को मान देकर अपनी योगसाधना की ममता को छोड़ कर पाटलिपुत्र आ पहुँचे थे। इसी प्रकार जैनधर्म के अनुयायियों ने कीड़ियों, कबूतरों खरगोश, और क्रौंचपक्षी के लिए प्राण छोड़ दिये या छोड़ने को तैयार हुये थे। आज भी तपस्या और त्याग की पूंजी जैनसाधुसाध्वियों और जैनगृहस्थ भाईबहिनों के पास काफी है। सिर्फ उसका उपयोग समाजशुद्धि और अनुबन्धसाधना में हो तो सोने में सुगंध हो सकती है।

भिक्षाचरी और पैदलविहार द्वारा आमजनता से सम्पर्क, सर्वधर्मसमन्वय और समाज के साथ अनुबन्ध भूतकाल में आचार्य हेमचन्द्रसूरि, हरिभद्रसूरि, सिद्धसेन दिवाकर, शीलगुणसूरि, योगी आनन्दघनजी, उपाध्याय यशोविजयजी आदि जैनपरम्परा के आचार्यों व मुनियों ने आचरित करके बताया ही है। आज भी यह विरासत अमुक अंशों में जैनसाधुसाध्वियों के पास सुरक्षित है। जैनसंघों ने व्यक्तिजीवन के साथ विश्वजीवन की कड़ी जोड़ने का कार्य भूतकाल में किया ही है। यद्यपि आज भले ही कुछ जैनसाधुसाध्वियों में संकुचितता साम्प्रदायिकता, अतिपन का दोष युगबाह्य क्रियाकाण्डों के कारण विकासरोध, अनीतिमार्ग धनिकों को प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से झूठीप्रतिष्ठाप्रदान का दोष, तथाकथित समाज का झूठा भय आदि दोष दिखाई देते हों। किन्तु जैनसाधुसंस्था में से सारी की सारी संस्था नहीं, किन्तु सर्वांगी अनुबन्धवाली धर्मक्रान्ति को अमली रूप देने वाले या देना चाहने वाले कुछ विरलरत्न अवश्य निकल सकते हैं जिनकी प्रेरणा से विश्व का अनुबन्ध ठीक तरह से व्यवस्थित हो सकता है।

किन्तु एक बात जरूर है कि ऐसे क्रान्तिप्रिय अनुबन्धकार ग्राम से लेकर ठेठ विश्व तक के सभी सांस्कृतिकबलों को जोड़ने का कार्य

अपनी और विश्व के प्राणियों की प्रवृत्तिनिवृत्ति को समतोल रखकर अनासक्तरूप से सभी कर सकेंगे, जब प्रारम्भ में उन्हें धर्मक्रान्ति के प्रेमी, गाँधीदृष्टिप्राप्त ब्रह्मचर्यप्रिय गृहस्थ भरनारियों के छोटे से समूह का व्यवस्थित और मजबूत सहयोग, पीठबल, और साधनशुद्धिपूर्वक सहारा होगा या मिलेगा। अन्यथा आज के तथाकथित समाज पर जो रूढ़िवादी, पूंजीवादी या उद्दण्डतत्वों की पकड़ है, इसके सामने अहिंसक लड़ाई लड़ने में, क्रान्ति करने में वे कितने टिके रह सकेंगे, यह अवश्य विचारणीय है। ऐसे अनुबन्धकारों के पास अनुबन्ध जोड़ने का सबसे बड़ा साधन तो अपना चारित्र्यबल है, इसके अलावा उनका त्याग और तपस्या है, स्वाभिमानभरी भिक्षाचरी और स्वावलम्बी पदयात्रा ये साधन भी लोकसम्पर्क और लोकसंग्रह के लिये अनुपम हैं। इसके सिवाय व्याख्यान धर्मोपदेश, योग्यतानुसार नैतिकधार्मिकप्रेरणा, आदि से लोक संग्रह होता है जो अनुबन्ध के लिए उत्तम साधन है। लोकहृदयों को जोड़ने के लिये विचारप्रचार भी कम साधन नहीं है। इसके अतिरिक्त धर्मनीति से पोषित व्यवस्थित संस्थाओं के पारस्परिक योग से जगत् की व्यवस्था को समतोल रखने के लिए शुद्धिप्रयोग व द्वारा क्रमशः आध्यात्मिक, नैतिक-सामाजिक और सत्यलक्षी राजकीय दबाव भी लाना पड़ेगा और इस प्रकार का कार्य करने के लिये विविध क्षेत्रों में धर्म का प्रवेश कराना पड़ेगा।

अब प्रश्न यह होता है कि व्यापक अनुबन्धदृष्टिवाला अनुबन्धकार जब विश्व के सभी प्राणियों के साथ अपना सम्बन्ध मानता है और उन सम्बन्धों को वात्सल्यसम्बन्ध (अनुबन्ध) बनाने जाता है, तब यह तो समझ में आता है कि वह सज्जन पुरुषों या करुणापात्र व्यक्तियों के साथ तो सहज ही अनुबन्ध जोड़ सकेगा, किन्तु जगत् में मनुष्य से लेकर मनुष्येतर कीटपतंग, वनस्पति आदि तक के सभी प्राणी एक सरीखे स्वभाव के तो नहीं होते। फिर, जो दुष्ट, दुर्जन या पापी,

क्रूर, उद्दण्ड आदि प्रकृति के मनुष्य या प्राणी हैं, उनके साथ अनुबन्ध कैसे जोड़ सकेगा ? बात सही है। इसका समाधान यह है कि अनुबन्धकार को अपने सामने विश्ववात्सल्य का ध्येय रखकर और मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ्य इन चारों भावनाओं का पूरा विवेक एक माता की तरह रख कर चलना होगा। जैसे एक माता अपने सब बच्चों पर समान प्रेम बरसाती है। अगर कोई बालक अच्छा कार्य करके आता है तो उसे प्रोत्साहित करने के लिए माता उसे शाबाशी या आशीर्वाद देती है। कोई बालक दुःखित, रोगी या पीड़ित होता है तो माता की आँखों में आँसू के रूप में करुणा भी उमड़ पड़ती है और तदनुसार वह उसका दुःख दूर करने का प्रयत्न भी करती है। पर अगर कोई बालक शैतानी करता है, उद्दण्डता करता है किसी बालक के साथ अन्याय करता है, उलटे रास्ते जाता है, चोरी आदि करता है तो माता उसे डाँटती फटकारती और उचित दण्ड भी देती है। किन्तु इन चारों दशाओं में चारों बालकों पर माता के हृदय में सहज वात्सल्य होता है।

इसी प्रकार जो विश्व की माता बन कर सारे विश्व के साथ अनुबन्ध जोड़ना चाहता है, वह भी सभी प्राणियों—व्यक्ति, संस्था, समाज और समष्टि के प्रति अरागद्वेष रखकर मैत्रीभावना से चलेगा। किन्तु जो व्यक्ति (प्राणी) संस्था, समाज या समष्टि (मानवेतर प्राणिवर्ग) अच्छे हैं, जगत् के लिए हितकर कार्य करते हैं, चारित्र्यशील हैं, सद्गुणी हैं, उनके प्रति प्रमोदभावना द्वारा सहज ही उसके दिल से धन्यवाद उमड़ पड़ेगा, वह उसे आशीर्वाद देगा, उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न करेगा, ऐसे शुभकर्मों के प्रति अधिक आत्मीयता होगी। जो व्यक्ति, संस्था, समाज या समष्टि दुःखित, पीड़ित, अन्यायपीड़ित, शोषित, पद दलित, या रोगी आदि होंगे उनके प्रति विश्ववत्सल अनुबन्धकार की करुणा फूट पड़ेगी और उसके दुःखों या अन्यायादि को वह, यथाशक्ति

प्राचीनकाल में भारतवर्ष में किस प्रकार की अनुबन्धप्रणाली थी, पार्वती का दृष्टिकोण और जनमानस कैसा था ?

भारतवर्ष में तीन धर्म की धारा अतिप्राचीनकाल से चली आरही है। वे तीन धाराएँ हैं—वैदिक, जैन और बौद्ध। इन तीनों धाराओं में किस प्रकार की अनुबन्धप्रणाली थी, इस पर हमें विचार करना है।

सर्वप्रथम हम जैनधर्म की धारा को लेते हैं। मानव जब पशु-ओं की तरह नंगधड़ंग जगलों में मुक्तरूप से फिरता था, वृक्ष, फल, फूल, पत्ते आदि उसके जीवननिर्वाह के साधन थे, उस समय जिंदगी टिकाए रखने का ही उसका लक्ष्य था। सभी मानव स्वतन्त्ररूप से अपना जीवनयापन करते थे,। किसी की जिम्मेवारी किसी दूसरे पर नहीं थी। मनुष्य सिर्फ अपने लिए ही नहीं, विश्व के लिए भी है ऐसी उसकी दृष्टि नहीं थी। न कोई समाज बना था, न राज्य और न धर्मसंस्था ही थी। इस काल को हम निरनुबन्ध काल कह सकते हैं, क्योंकि इस काल में किसी का किसी के साथ अनुबन्ध नहीं था, सब प्रकृति पर निर्भर थे।

इसके बाद युग बदला। जनता का मानस बदला। जनता भोगभूमि के काल को छोड़ कर कर्मभूमि के काल में आई। उस समय जनता के विकास के लिए ऋषभदेव नाम के कुलकर ने (जो बाद में पहले राजा और प्रथम तीर्थङ्कर बने) कृषि, गोपालन, वस्त्र-कला, पाककला, शस्त्रास्त्रनिर्माणकला, बर्तन बनाने की कला इत्यादि कलाएँ और विद्याएँ सिखाईं। जिनके नाम जैनग्रन्थों में असि, मसि और कृषि ये तीन मुख्य कर्म दिये गये हैं। ऋषभदेव ने उस समय के लोगों को सुव्यवस्थित और संगठित किया। समाजसंगठन बनाया। तत्पश्चात् राज्यसंगठन भी बनाया। लोकसंगठन (समाज) में उन्होंने उस समय तीन वर्णों की आवश्यकता समझी, क्योंकि ब्राह्मणवर्ण का

कार्य वे स्वयं कर रहे थे। इसलिए क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण कायम किए। सर्वप्रथम वे समाजव्यवस्था के निर्माणकर्ता भी बने, क्योंकि उस समय की यौगलिकजनता इतनी भोली व अपरकृत थी कि उसे समाज और राज्य की व्यवस्था स्वयं प्रत्यक्ष करके बताए बिना वह सीख नहीं सकती थी। इसीलिए उन्हें उस समय सबसे पहला राजा व ब्राह्मण भी बनना पड़ा। इसके बाद जब उन्होंने देखा कि प्रजा (लोक) संगठन खूब व्यवस्थित होगया, राज्यसंगठन भी व्यवस्थित है और दोनों का अनुबन्ध पूरा जुड़ गया है, ज्येष्ठपुत्र भरत राज्यकार्य व्यवस्थित रूप से चलाने लायक होगये हैं, तब उन्होंने स्वयं मुनिदीक्षा ग्रहण की और तीर्थंकरत्व में सम्पूर्ण आत्मज्ञान हो जाने के बाद वीत-रागधर्म की स्थापना की और मुनिदा साधकों के उपदायक तीर्थंकर भी बने। भगवान् ऋषभदेव के द्वारा स्थापित साधुसाध्वी—श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध वीतराग (जिन) शासन में जो गृहस्थ श्रावक श्राविका बने, उन्हें भरतजी ने ब्राह्मणलोकसंगठन के प्रत्यक्ष निर्माणकर्ता, समाज को शिक्षण और संस्कार देने वाले, प्रत्यक्ष सक्रिय मार्गदर्शन देने वाले) पद दिया। ऋषभचरित्र में (श्रावका ब्राह्मणा स्मृता (श्रावक ब्राह्मण कहे गए हैं) कहा है। जैनशास्त्रों में जगह-जगह समणे वा माहणे वा यानी श्रमण के साथ माहण (माहन) शब्द आता है, वह भी ब्राह्मण शब्द का सूचक प्रतीत होता है।

इस प्रकार लोकसंगठन, राज्यसंगठन और वीतराग (जिन) संगठन दूसरे शब्दों में कहें तो लोकशासन, राज्य शासन, और वीतराग शासन इन तीनों संगठनों या शासनों का परस्पर सम्यक् अनुबन्ध भगवान् ऋषभदेव के द्वारा हो गया था। ये तीनों संगठन एक दूसरे पर अवलम्बित थे। इतना ही नहीं इन तीनों में से एक की भी अव-गणना होती तो मानवजाति में त्राहि-त्राहि मच जाती और सारी व्यवस्था गड़बड़ होजाती। ऋषभदेव राजा थे तभी सम्यक् ज्ञानी

थे, क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे और क्रम से तीर्थंकर थे। इसलिए उन्होंने अपने सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनपूर्वक इन तीनों का ठोस अनुबन्ध स्थापित कर दिया था और स्वयं जिनशासननायक (तीर्थंकर) बन जाने के बाद भी उनकी उक्त तीनों संगठनों के प्रति नैतिक चौकी और नैतिक-धार्मिक-प्रेरणा रही। राज्यों के संगठन में एक बार यह गड़बड़ हुई कि भरत को चक्रवर्ती पद प्राप्त करना था और चक्रवर्ती पद में दूसरे सभी छोटे-छोटे राजा और राज्य उनकी प्रेरणा और आज्ञा के आधीन होकर चलें, यह इष्ट था, किन्तु भरतजी के ९८ छोटे भाई भाइ के नाते उनकी आज्ञा उठाने को तैयार थे स्वामी-सेवक के नाते नहीं। भरतजी का यह संदेश उन्हें अधीनस्थ सेवक बन कर रहने का था। स्वाभिमानी ९८ लघुभ्राताओं ने भरतजी का यह संदेश मानने से इन्कार किया और संदेशवाहक से कहा कि हमें राज्य पिताजी (ऋषभदेव) ने दिया है भरतजी ने नहीं। बड़े भाइ के नाते हम उनको मानने और उनकी आज्ञा पालन करने को तैयार हैं, अधीनस्थ सेवक की तरह नहीं। भरतजी को रोष चढ़ा। इधर ९८ भाइयों को भी यह विचार आया कि पिताजी ने हमें राज्य दिया है तो इसका निपटारा पिताजी के पास जाकर ही क्यों न करा लें। वे जो कुछ कहेंगे, उस आज्ञा को हमें शिरोधार्य कर लेना चाहिए। वे सब भगवान ऋषभदेव के पास पहुँचे और उनसे इसका निपटारा करने की विनति की। ऋषभदेव ने उन्हें कहा कि इस *नश्वर राज्य (पुद्गलों के टुकड़े) की अपेक्षा मैं तुम्हें मुक्ति का राज्य* दिला देता हूँ। तुम क्यों इस क्षणिक राज्य के मोह में पड़े हो? अपनी शक्तियों का सदुपयोग करो। सद्भावना के साथ इस नश्वर राज्य को छोड़ दो और भरत को इसमें रस लेने दो, तुम सब उस अविचल राज्य के लिए साधुदीक्षा अंगीकार कर लो। को बाद में अवश्य ही तुम्हारे इस कार्य से पश्चात्ताप होगा, वह अपनी

मुझ प्रसन्नता और तुम्हारे इस अपूर्व कार्य का आदर करेगा।"
९८ पुत्रों को भ ऋषभदेव की यह प्रेरणा सीधी गले उतर गई और उन्होंने मोक्षराज्य के लिए पुरुषार्थ करना शुरू किया। भरतजी को यह बात मालूम पड़ी तो वे एकदम दौड़े हुए भ ऋषभदेव के पास पहुँचे और ९८ भाइयों को साधु बने देखकर पश्चात्तापपूर्वक सभी से क्षमायाचना करने लगे। ९८ भाइयों ने और ऋषभदेवजी ने भरतजी को यथायोग्य प्रेरणा व आश्वासन दिया। इस प्रकार राज्यों के संगठन में आई हुई गड़बड़ी को भ० ऋषभदेव ने बड़ी कुशलता से मिटाई।

भ० ऋषभदेव के दूसरे पुत्र बाहुबलिजी ने भी, बाद में साधु दीक्षा ले ली। किन्तु वय उम्र में बड़ होने के कारण अपने से पहले दीक्षा लिए हुए अपने छोटे भाइयों (९८ साधुओं) को वंदना करना नहीं चाहते थे। उनके मन में यह विचार आया कि "मैं क्या उग्र-तपस्या करके संघ में रहूँ बिना अकेला ही उग्र साधना नहीं कर सकता ?" इस अहं से प्रेरित होकर वे जंगल में ध्यानमुद्रा में कायोत्सर्ग करके खड़े हो गये। इतनी कड़ी तपस्या की कि उनके शरीर पर बेलें छागई, पक्षियों ने उनके कान में घोंसले बना डाले, फिर भी वे समताभाव से स्थिर रहे। किन्तु अभिमान अब भी अन्तर में खेल रहा था, वह उन्हें लघुसाधुभ्राताओं को वन्दना करने के लिए रोक रहा था। इसी कारण उनका विकास और पूर्णज्ञान रुका हुआ था। भ० ऋषभदेव को जिनशासन के एक साधक की इस गड़बड़ी का पता चला तो उन्होंने अपनी पुत्री साध्वी ब्राह्मी एवं सुन्दरी दोनों को उन्हें सावधान करने के लिए भेजा। साध्वियों ने ध्यानमग्न बाहुबलि मुनि (अपने भ्राता) को नम्र और सुन्दर शब्दों से संबोधित किया—

वीरा ! म्हारा गज थकी उतरो रे !

प्रत्येक पंक्ति में प्रेरणा का सुन्दर नाद था। बाहुबलि मुनि का अन्तःकरण जाग उठा। उन्होंने तुरन्त अपने को

आदर्शों (अणुव्रतधारियों) को नमन करने के लिए कदम उठाया कि शीघ्र ही उन्हें केवलज्ञान (पूर्ण आत्मज्ञान) प्राप्त हो गया।

यह था लोकशासन, राज्यशासन और जिनशासन की नैतिक चौकी और नैतिकधार्मिकप्रेरणा द्वारा भ० ऋषभदेव का सतत अनुबन्ध कार्य। इसी अनुबन्ध के फलस्वरूप उस काल की समाजादि व्यवस्था ऐसी सुदृढ़ बनी कि ठेठ महावीरकाल तक वह प्रायः अबाधितरूप से चालू रही।

अलबत्ता, रामयुग में जो समाज व राज्य की रचना दिखाई देती है, उसमें वाल्मीकिरामायण को देखते हुए थोड़ी गड़बड़ मालूम देती है। किन्तु बाद में वह भी श्रीरामचन्द्रजी और वशिष्ठजी के निमित्त से ठीक हो जाती है। यद्यपि वीतरागशासन में थोड़ी मन्दता आ जाती है। वह भगवान् राम के निमित्त से पूरी तरह से दूर नहीं होती। क्योंकि उनकी भी अपनी एक सीमा थी। अन्यथा सीता और अयोध्या के बीच वियोग के दिन नहीं देखने पड़ते। कृष्णयुग में राज्यों के शासनों को व्यवस्थित करने का मौका मिला, लोगों के शासनों को भी थोड़ी नई शक्ति मिली, किन्तु वीतरागशासन की मन्दता उस काल में भी पूरी तरह से दूर न हुई। यद्यपि श्री अरिष्टनेमि तीर्थंकर ने अपने निजी उदाहरण से जनता को पशुदया का एक सुन्दर पाठ पढ़ा कर पशुजगत् के साथ मानवों का अनुबन्ध जोड़ा था, किन्तु इन तीनों शासनों में उतारचढ़ाव आते रहे, गड़बड़ियाँ होती रहीं। इसके बाद पार्श्वनाथ और महावीर आए। इनके बीच-राष्ट्रशासनव्यवस्थामें कुछ अंश में राज्यों के शासन (संगठन) स्थिर हो गए थे। जनशक्ति भी सुदृढ़ बनी। वीतरागशासन भी तेजस्वी बना। लोक-संगठन के चारों वर्णों में जो विकृति आगई थी, सिद्धान्तों के पालन में त्रुटियाँ हो रही थीं, उन्हें भ० महावीरने अनुबन्ध साधना द्वारा ठीक किया। परन्तु तीनों संगठनों का यथायोग्य अनुबन्ध

वैसा होना चाहिए था, वह पूर्णत: न होसका। भ० महावीर अप्रमत्त होकर सतत अनुबन्धसाधना के पुरुषार्थ में रत रहे अथक प्रयत्न करते रहे। फिर भी कई अन्तराय आगये थे। जैनशास्त्रों में कहा है कि पांच कारणसमवाय मिले बिना सर्वांगोपांगिक और सम्पूर्ण अनुबन्ध सफल नहीं होता। आखिर तीर्थंकरपुरुष भी सर्वोत्तम महामानव होते हुए भी निमित्त ही तो थे।

भगवान् महावीरने लोकसंगठन को नया मोड देने की दृष्टि से ग्रामधर्म और नगरधर्म बताया, साथ ही राज्यसंगठन को सुस्थिर रखने के लिए राष्ट्रधर्म बताया और जिन (वीतराग) संगठन को सुदृढ रखने के लिए संघधर्म बताया। इस प्रकार अनुबन्धसाधना को व्यवस्थितरूप देने के लिए उन्होंने पूरा पुरुषार्थ किया और समय-समय पर तीनों ही संगठनों में आई हुई गड़बड़ियों और विकृतियों को मिटाने के लिए सतत नैतिक चौकी और प्रेरणाकार्य किया। महावीरजीवन में इसके काफी उदाहरण मिलते हैं।

जैनलोग मानव के समूहजीवन के निर्माण में पूरा रस लेते आये हैं, यह उपर्युक्त जैनइतिहास से सिद्ध हो जाता है। यद्यपि तीर्थंकरों द्वारा स्थापित तीर्थ, संघ या शासन को (जिनशासन या वीत-राग शासन को) उपर्युक्त तीनों में सर्वप्रथम मुख्य स्थान दिया गया है। और सच्चे जैनों की भावना भी यही रहती है—'सवि जीव करूं 'जिनशासनरसी ऐसी भावदया मन उल्सी। वे राज्यों के शासन से भी इन्कार नहीं करते, क्योंकि जैन श्रावकों के लिए रायाभिओगे' आगार तथा विरुद्धराज्यातिक्रम नामक तृतीयव्रत का अतिचार (दोष) बताया है, उससे सावधान रहने का कहा गया है। इसी प्रकार लोकशासन से भी जैन इन्कार नहीं करता, क्योंकि ग्राम धर्म, नगरधर्म आदि तथा मार्गानुसारीगुण आमजनता के संगठन

को सुव्यवस्थित रखने के लिए बताए गए हैं। जहाँ मानवसमाज सुव्यवस्थित या सुग्रथित हुआ वहाँ कोई न कोई शासन (सुव्यवस्थाकारक संगठन) हो जाएगा ही। उसके बिना आम मानवसमाज व्यवस्थित नहीं रह सकता।

वैदिकधर्म की धारा में तो चार वर्ण और चार आश्रम को धर्म रूप मान कर चलने की मान्यता प्राचीनकाल से चली आरही है। चार वर्णों में से लोकसंगठन में वैश्य और शूद्र दोनों एक दूसरे से अनुबन्धित रहते थे। लोकसंगठन से अनुबंधित राज्यसंगठन रहता था और इन दोनों संगठनों का अनुबन्ध चारों वर्णों के नैतिक प्रेरक और प्रत्यक्ष संस्कर्ता ब्राह्मणवर्ण (प्रेरक संगठन) से रहता था। और इन तीनों संगठनों का मुख्य अनुबन्ध संन्यासी ऋषिमुनिवर्ग (मार्गदर्शक-संगठन) से रहता था। यद्यपि मूल में वर्णव्यवस्था कर्म (धंधों) पर से नियत की गई थी। गीता में भी 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' कह कर श्रीकृष्ण भगवान् ने चारों वर्णों को गुण और कर्म के अनुसार बताए हैं, ऐसा माना है। परन्तु बाद में चारों वर्ण जन्मपरक या जातिपरक माने जाने लगे। प्राचीनकाल में लोकसंगठन (वैश्यशूद्रवर्ण) और राज्यसंगठन (क्षत्रियवर्ण) पर ब्राह्मण (प्रेरक) संगठन का अंकुश था। ब्राह्मणवर्ण निर्लोभ निःस्पृह और त्यागी होकर रहता था और समाजनिर्माण (राज्य और प्रजा के निर्माण) में प्रत्यक्ष सक्रिय भाग लेता था। वह गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक के संस्कार करता था, प्रजा के दैनिक जीवन के नीति-नियम और व्यवहार बनाता था, ग्रामोद्योग-गृहोद्योगों, कलाओं, विद्याओं, आदि का शिक्षण और चारित्र्य के उच्च संस्कार समाज को देता था, दण्डव्यवस्था बताता था। क्षत्रियवर्ग न्याय और रक्षण की व्यवस्था करता था। वैश्यवर्ण हिसाबकिताब, व्यापार, धंधा, खेती, गोपालन आदि करता था। शूद्रवर्ण विविध वस्तुओं का उत्पादन करता था, इसी प्रकार

की सेवाएँ करता था। इस प्रकार चारों ही वर्ण समाज की सेवा का लक्ष्य लेकर समाज को उन्नत बनाने और सुव्यवस्थित रखने के लिए स्थापित किए गए थे। इन चारों को शरीर के चार अंग (ब्राह्मण को मुख, क्षत्रिय को भुजा, वैश्य को पेट और शूद्र को पैर) की उपमा धर्मशास्त्रों और वेदों में दी गई है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध और सहकार है, उसी प्रकार चातुर्वर्ण्य समाज का भी एक दूसरे के साथ घनिष्ठ अनुबन्ध होता था। इसलिए हजारों वर्षों तक समाज की व्यवस्था सुचारुरूप से चलती रही। यदि कहीं कोई गड़बड़ होती, अनुबन्ध बिगड़ता या टूट जाता तो ब्राह्मण उसे ठीक करने का कार्य करता था। अगर ब्राह्मणवर्ग भी कदाचित् लापरवाही, पक्षपात या स्वार्थवश उपेक्षा करता तो साधु सन्यासी या ऋषि-मुनि तुरन्त ही उन्हें सावधान करते थे और बिगड़े हुए अनुबन्ध को ठीक करने का प्रयत्न करते। वे समाजरचना के कार्य में अपनी मर्यादा में रहकर प्रेरणादाता के रूप में भाग लेते थे परन्तु समाजरचना के इस महत्त्वपूर्ण कार्य से उदासीनता या उपेक्षा करके वे नहीं बैठे रहते थे।

कुटुम्ब जब विशाल बनता है, तब वही समाज कहलाता है। 'गोब्राह्मणप्रतिपाल' के रूप में क्षत्रियवर्ण को गिना जाय तो वैश्य और शूद्र इन दो वर्णों को उसके पूरक के रूप में गिने जा सकते हैं और गृहस्थब्राह्मण या वानप्रस्थी लोगों को प्रेरक के रूप में तथा साधु-सन्यासियों को मार्गदर्शक के रूप में अवश्य माना जा सकता है। राज्य वहाँ तक ऐसे समाज का एक व्यवस्थित अंग था, वहाँ तक भारत का समाज-जीवन तालबद्ध, व्यवस्थित अथवा धर्ममय रहा। परन्तु दुर्भाग्यवश अमुक समय तक मार्गदर्शक प्रेरकबल बराबर रहा। वहाँ पूरक-बल बराबर न रहा। उसके कारण आखिरकार पूरक, प्रेरक, मूल और मार्गदर्शक चारों का सुयोग्य अनुबन्ध टूट गया। चारों अलग-अलग

हो गए। चारों का प्रभाव एक दूसरे पर न रहा। फलत समाज, राज्य और धर्मसस्था इस प्रकार तीन टुकड़े अलग-अलग रूप से एक ही समाज के होगए।

रामयुग में वशिष्ठ प्रेरक थे, विश्वामित्र या वाल्मीकि जैसे मार्गदर्शक थे। राज्यसस्था के साथ इनका बराबर अनुबन्ध रहा, नैतिक चौकी और प्रेरणा भी रही। परतु लोक-सगठन (वैश्य-शूद्र) के साथ सपर्क, नैतिकचौकी या प्रेरणा बहुत ही कम रही। यही कारण है कि अयोध्या में धोबी जैसे व्यक्ति सीता जैसी पवित्र सती के लिए अपवाद कह सके थे। उस समय धोबी को समझाने या प्रेरणा देने वशिष्ठ मुनि नहीं आते, लोग (जनता) भी नहीं आते। पर कैकेयी ने जब दो वचन मागे थे, तब उसके पास लोग गये थे। मतलब यह कि वैश्यशूद्र (लोकसगठन या पूरकसगठन) की नैतिक चौकी या प्रेरणा वशिष्ठमुनि के समय से ही कम होने लगी थी। इसके प्रायश्चित के रूप में धोबी जैसे लोकसगठन के प्रतीक पर नैतिक-सामाजिक दबाव लानेके लिए श्रीरामचन्द्रजी को सीता जैसी पवित्र सती का त्याग करना पड़ता है। कैकेयी पर तो सामाजिक दबाव अयोध्या के लोगों का आया ही था। साथ ही श्रीरामचन्द्रजी के राज्यत्याग और वनप्रस्थान ने उसके हृदय को बिलकुल बदल कर अनुबन्ध सुधार दिया था। सारांश यह कि एक ओर राज्यसस्था (मूल) को ब्राह्मणों और ऋषिमुनियों की प्रेरणा रहती थी। दूसरी ओर प्रजा के एक भी मनुष्य के साथ अन्याय न होजाय, उसकी स्वतत्रता में बाधा न पहुँचे, यहाँ तक श्रीराम को देखना पड़ा था। इसी कारण अयोध्या का समाज व्यवस्थितपूर्वक रह सका था।

यद्यपि रामचन्द्रजी ने स्वय अन्यसस्कृति की आवश्यकता एव ऋषिमुनियों के साथ अनुबन्ध जोड़ा, अनार्य, राक्षसजाति, तथा वानर जाति के सुनिन्दा नरवीरों के साथ अनुबन्ध जोड़कर इन्होंने

एकत्रित किया किन्तु फिर भी लोकसंगठन के साथ पूर्णत: अनुबन्ध न हो सका। श्रीकृष्णयुग में यद्यपि नारद जैसे मुनियों तथा द्रोणाचार्य कृपाचार्य, जैसे ब्राह्मणप्रेरकों के साथ राज्यसंस्था का सम्बन्ध रहा, किन्तु द्रोणाचार्य जैसे प्रेरकों का उपयोग अनीतिमान राजाओं को पीठबल देने तथा उनको सहकार देने में ही हुआ। श्रीकृष्णजी ने स्वयं अन्याय का प्रतीकार करने व, युद्ध रोकने के प्रयत्न किये, मगर अकेले उनके प्रयत्नों से इतना बड़ा महाभारत न रुक सका। फिरभी बीच-बीच में प्रयत्न होते गए। परन्तु बाद में ब्राह्मणों और साधु-सन्यासियों, ऋषिमुनियों की नैतिक चौकी और नैतिक-धार्मिक-प्रेरणा न होने से वर्णव्यवस्था में शिथिलता और विकृति आगई और अनुबन्ध की कड़ियाँ टूटती गईं।

इतना अवश्य कहना होगा कि उस समय के प्रेरकों और मार्गदर्शकों के जागृतिकाल में परोपकारप्रधान व्यक्तिरचना, कर्तव्यमय कुटुम्बरचना, धर्ममय समाजरचना और न्यायमय राज्यरचना थी। उसमें बीच-बीच में लोलता-मन्दता तो बहुतबार आई है।

बौद्धधर्म की धारा में समाज, राज्य और धर्म (संघ) यानी समाज-संगठन, राज्यसंगठन और धर्म—संगठन इन तीनों का परस्पर अनुबन्ध रहा है। यद्यपि बौद्धधर्म वर्णव्यवस्था को जन्मना नहीं मानता, फिर भी उसमें वर्णव्यवस्था का गुणकर्म से व्यवस्थित विचार किया गया है। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि राज्यसंगठन और समाजसंगठन को बौद्धसंघ से सदा प्रेरणा मिलती आ रही है। बल्कि यों कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि बौद्धधर्म राज्याश्रित होकर अत्यधिक फलाफूला है। विदेशों में जहाँ-जहाँ भी बौद्धधर्म गया है, वहाँ राज्य पर बौद्धभिक्षुओं (बौद्धधर्मसंस्था) का प्रभाव बराबर रहा है। उनकी प्रेरणाएँ भी मानी गई हैं। उपगुप्तभिक्षु ने अशोक राजा को नैतिक प्रेरणा देकर युद्ध से विरक्त कर दिया था। बुद्ध, संघ और

-धर्म इन तीन का शरण लेने का निर्देश करके बौद्धधर्म ने तीनों का परस्पर अनुबन्ध जोड़ने का संकेत कर दिया है। बुद्ध समस्त साधु संस्था के प्रतीक हैं, संघ सारे समाज (चातुर्वर्ण्य) तथा राज्य का प्रतीक है और धर्म इन सबका प्रेरकबल है। सभी का धर्म के साथ अनुबन्ध है।

इसी प्रकार भारत में जो विदेशी शासक आए, मुसलमान और अंग्रेज, उनके शासनकाल में भी धर्मगुरुओं-मौलवियों, पादरियों-आदि के साथ राज्य और समाज का सम्बन्ध रहा। यद्यपि उनका विशिष्ट प्रभाव राज्य पर न पड़ सका और समाज में भी सारे समाज पर न पड़ सका। उनके धर्मसंगठनों का कुछ प्रभाव पड़ा और प्रायः बहुत से लोगों को लोभ देकर या भय बताकर धर्मान्तर कराया गया। इस प्रकार विदेशी धर्मसंगठनों ने भारत के लोगों के साथ स्वार्थ या मोह का सम्बन्ध ही जोड़ा, अनुबन्ध नहीं।

इस प्रकार भारतवर्ष में अपने ढंग को भारतीय संस्कृति के रंग को लिए हुए अनुबन्ध—प्रणाली थी।

अनुबन्ध कैसे और कब बिगड़ा ?

जैनधर्म की धारा में जो तीन शासन या संगठन थे, उनमें परस्पर पृथकता की भावना जोर पकड़ने लगी। आध्यात्मिक लोग (साधक) प्रायः व्यक्तिवादी बन कर लोकसंगठन या राज्यसंगठन को प्रेरणा देने, नैतिक चौकी रखने या लोकसंगठनों या राज्यों के संगठनों के पेचीदे प्रश्नों या उलझी हुई समस्याओं से उदासीनता, उपेक्षा या किनाराकशी करने लगे। समाजनिर्माण की बुनियादरूप अनुबन्ध—साधना से दूर भागने लगे, अपनी जिम्मेवारी से हटने लगे और एकान्त निवृत्तिवाद के चक्कर में पड़ कर शुभप्रवृत्तियों से भी विमुख होने लगे। साथ ही जो श्रावकवर्ग (ब्राह्मणवर्ग) श्रमणों—

पालक रह कर श्रमणों को इस अनुबन्ध–साधना में प्रत्यक्ष, सक्रिय भाग लेता था, उसने भी अपने जीवन में वनिवावृत्ति अपना कर और अनुचित, छिछले बाह्य क्रियाकाण्ड में धर्माचरण को इतिसमाप्ति मान कर इस कार्य से मुह मोड लिया, तब से लोकसङ्गठन और राज्यसङ्गठन में तो थोडा—थोडा सम्बन्ध रहा; वह भी शुद्ध नहीं रहा। और वीतरागसङ्गठन का अनुबन्ध इन दोनों पूर्वोक्त सङ्गठनों से प्राय टूट गया। फलत इन दोनों पर कोई नैतिक चौकी या अङ्कुश प्राय न रहा। साधुवर्ग में, (वीतरागसङ्गठन में) प्राय यह भ्रम घुस गया कि अनुबन्ध—साधना, तो लौकिक धर्म है, पापमय प्रवृत्ति है, ससारका काम है, इसमें साधुवर्ग को नहीं पडना चाहिये। इस प्रकार सङ्गठनत्रय का जो अनुबन्ध था, वह बिखर गया।

वैदिक धर्म की धारा में जो पूरक, (वैश्यशूद्र) प्रेरक (ब्राह्मण) राज्य (क्षत्रिय) और मार्गदर्शक (सन्यासी, ऋषि, मुनि) का सङ्गठन अनुबन्धित था और चातुर्वर्ण्य समाज के साथ सन्यासीवर्ग का अनुबन्ध था, वह भी बिगडने लगा। उसका कारण यह बना कि इधर साधुसन्यासियों ने समाज पर अपना मार्गदर्शन और चौकी रखनी उपयुक्त कारणों से बन्द कर दी। जो समाज का सिरमौर ब्राह्मणवर्ण निस्पृह, त्यागी, निर्लेप और समाजोन्नति की रातदिन चिन्ता करनेवाला था, वही वर्ण अब आलसी, अकर्मण्य, दीन, लोभी, अभिमानी और कायर वाह बन गया, समाजोन्नति की उपेक्षा करके, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, पूजापाठ आदि द्वारा अपना घर भरने लगा। उसे अब प्रतिष्ठा का मोह भी लग गया। फलत वह दूसरे वर्णों को अपने से नीचा कहने लगा। खुद में त्याग की मात्रा कम होने पर भी अपने को श्रेष्ठ मानने और कहने लगा। क्षत्रियवर्ण के हाथ में राज्यसत्ता थी, इस लिए वह (ब्राह्मणवर्ण) उससे दबकर या डरकर चलने लगा। उसकी झूठी प्रशसा या वाहवाही करने लगा, हाँ में हाँ मिलाने लगा।

उसके द्वारा किये गये अन्याय व अत्याचार को न्याय और दया कहने लगा। इधर क्षत्रियों की ओर से पैसे खुशामदी ब्राह्मणों को पैसा और प्रतिष्ठा मिलने लगी, राजगुरु, राजपुरोहित के पद एवं जागीरी या ईनाम मिलने लगे। फिर क्या था! दोनोंने अपनी मनमानी चलानी शुरू करदी। क्षत्रिय सत्तालोलुप होकर चाहे जिस पर चढ़ाई करने और कर द्वारा लूट मचाने लगा। निर्धनों का रक्षण और न्याय करने के बदले भक्षण व अत्याचार करने लगा, निर्दोष व्यक्ति पर भी अत्याचार ढहाने लगा। जुआ, शिकार, सुरा (शराब) और सुन्दरी (परस्त्रीसेवन) इन (चारों) की चाण्डालचौकड़ी के फेर में पड़ कर वह अपना क्षत्रियत्व खो बैठा। इधर ब्राह्मणवर्ग ने धन के लोभ में आकर वैश्यों से भी साठगांठ करनी शुरू कर दी। अभीति-मान होने पर भी वैश्यों को सेठ, पुण्यवान, भाग्यवान आदि पदों से भूषित कर रुपये ऐंठने शुरू किए। साथ ही अपनी दूकानदारी जमाए रखने के लिये यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र, ज्योतिष, मुहूर्त, जादू-टोना, ग्रहगोचर, आदि के अड़गे लगा, कर, भगवान की बाह्य पूजाप्रतिष्ठा का अनुष्ठान करने माला फेरने नामजप करने आदि द्वारा अपना उल्लू सीधा करने लगे। वैश्यों और क्षत्रियों ने ब्राह्मणों को पैसे का लोभ और झूठी प्रतिष्ठा देकर वश कर ही लिया था, इसलिए ब्राह्मणवर्ग ने वैश्यों को अन्याय, अनीति, शोषण, ब्याजखोरी, मुनाफाखोरी, चोरी, ठगी करते देख कर भी उनकी ओर से आंखें मूंद रखी थीं। मतलब यह कि ब्राह्मणों ने अनुबन्ध जोड़कर नैतिक प्रेरणा देने, चौकी करने का काम प्रायः छोड़ दिया था। अबरहा शूद्रवर्ण। उसके पास धन और सत्ता दोनों चीजें नहीं थीं। विद्या का द्वार तो उसके लिए बन्द ही कर रखा था। वे बेचारे तीनों वर्णों की चुपचाप सेवा किये जाते थे। ब्राह्मणों को भीति और लोभपूर्ति उनसे नहीं थी इसलिए वे उन्हें अछूत, नीच व पापी कहने लगे। मन्दिरों, व धर्मस्थानों में प्रवेश करने का उनका अधिकार छीन लिया। यहाँ तक

कि धर्मशास्त्र सुनने की भी मनाही करदी । फलतः शूद्रवर्ण में भी धीरे-धीरे धर्म के संस्कार कम होते चले गये, हीनभावना आगई, काम करने में बेगार की दृष्टि होगई । अपने धर्म में वह भी धर्म दृष्टि भूल बैठा ।

अनुबन्ध बिगड़ने का दुष्परिणाम

इस तरह चारों ही वर्णों से साधुओं और ब्राह्मणों का अनुबन्ध टूट जाने के कारण समाज में विकृति आई, समाज की व्यवस्थाएँ अस्तव्यस्त होगई । ब्राह्मणों और श्रमण-सन्यासियों में भी परस्पर अनुबन्ध न रहा । फलतः समाज में सत्ता और धन की प्रतिष्ठा बढ़ चली, सेवा न्याय, सदाचार, नीति और श्रम की प्रतिष्ठा टूट गई यह भी अनुबन्ध बिगड़ने का एक कारण बना । साथ ही मानवजीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म के साथ अनुबन्ध न होने से अशुद्धि बढ़ने लगी । जब से क्षत्रिय और वैश्यवर्ग में धर्मसंस्कारों की उपेक्षा होने लगी तब से भारत राजकीय और आर्थिक क्षेत्र में प्रायः विदेशों का गुलाम बन गया । सामाजिक क्षेत्र में ग्रामों में उद्योगनिष्ठ और श्रमजीवी किसान-मजदूरों का शोषण होता देखकर भी उनसे अनुबन्ध तोड़ कर साधु लोग प्रायः शहरों में घुसने लगे और लगभग पूँजीवाद के एजेंट बन गये। ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म का पालन स्वप्नवत् होगया । गृहस्थाश्रम में भोगवाद बढ़ता चला गया । फलतः सरेआम कन्या-सौदे तय होने लगे । पतिपत्नी दाम्पत्यधर्म को छोड़कर देहलग्न में पड़ गये और पद-पद पर तलाक की प्रथा अपनाने लगे । गृहस्थजीवन में ब्रह्मचर्य स्वप्नवत् हो गया, कृत्रिम संतति निरोध का दौर बढ़ता गया । शिक्षण में भी विलासिता और अकर्मण्यता का शिक्षण दिया जाने लगा । मानव-मानव के बीच भेदभाव की खाइयाँ हो गईं । धर्मक्षेत्र में भी सच्चे नकद धर्म की जगह बाह्य क्रियाकाण्डों, आडम्बरों, अन्धविश्वासों और चमत्कारों को

महत्त्व दिया जाने लगा। धर्मसंस्था के साथ सामाजिक अनुबन्ध जोड़ने की अपनी जिम्मेवारी को भूल कर अन्य प्रपंचों में या एकान्त-सेवन, उपेक्षासेवन आदि में पड़ गये अथवा तथाकथित धर्म-सम्प्रदाय के सिवाय अन्य सभी क्षेत्रों से उदासीनता धारण कर ली। मतलब यह कि साधुसंस्था के धर्मों का मानवजीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र से अनुबन्ध टूटगया और इस कारण सच्चा धर्म उनमें से विदा होगया।

भारत में प्राचीनकाल से वर्णव्यवस्था प्रचलित थी। राष्ट्र का आन्तरिक कार्यभार प्रायः तीन वर्णों और चार आश्रमों के हाथ में था। कोई भी विदेशी राज्य आक्रमण करता तो राष्ट्र को बचाने के लिए क्षत्रिय कमर कसे तैयार रहते थे। इसी प्रकार देश की प्रजा में से कोई भी छोटा या बड़ा वर्ग प्रजा के किसी वर्ग पर, दुर्बल पर जुल्म या अन्याय करता तो तुरंत वहाँ राजा मदद के लिए पहुँच जाता। अन्याय-निवारण के कार्य में अपना पुत्र या कोई भी सम्बन्धी हो, युद्ध अनिवार्यरूप से आ पड़ता तो वे धर्मयुद्ध में उतर पड़ते। बाली-सुग्रीव के युद्ध में राम और पाण्डव कौरव-युद्ध में श्रीकृष्ण मदद किये बिना न रह सके, यह इसका ज्वलंत उदाहरण है। बुद्ध और महावीर ने स्वयं राज्य छोड़ा, परन्तु प्रजा के लिए राज्यसंस्था की अनिवार्यता की उपेक्षा न की। अलबत्ता उस युग में वंशानुगत राजा के बदले गण-राज्यपद्धति अमल में आगई थी। किन्तु फिर पुनः आनुवंशिक राज्य पद्धति प्रविष्ट होगई। और राजनीति से ज्यों ज्यों ब्राह्मण-श्रमण (नैतिक-धार्मिक-बल) पृथक्ता अपनाने लगे, अनुबन्ध तोड़ने लगे त्यों त्यों राज्यक्षेत्र में सत्तालोलुपता और गैरजिम्मेवारी आदि बढ़ने लगी। बीच-बीच में व्यक्तिगत कई राजाओं को सुधारने और उनके द्वारा प्रजाकल्याण के कार्य करवाने के उदाहरण जैन-जैनेतर साधुओं और ब्राह्मणों के सम्बन्ध में मिलते हैं। परन्तु ब्रिटिशशासन से पहले ग्रामों में जो आर्थिक-सामाजिक-क्षेत्र में स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन था, वह

ब्रिटिशशासनकाल में ह्रास होगया। विज्ञान का मोड़ भी भौतिकता की ओर बढ़ता चला, जिससे यंत्रवाद और धननिष्ठा खूब बढ़ गई। और सबसे देश की सांस्कृतिक सामाजिक और नैतिक सब प्रकार से अधोगति हो चुकी। वर्णव्यवस्था के तन्त्र सर्वथा ढीले होगए। जातियों की पंचायतें तथा ग्रामपंचायतें थीं वे भी टूट गईं, जो रहीं वे भी प्रभावहीन होगईं। फलतः समाजरचना अर्थप्रधान बनगई। कुटुम्बरचना स्वार्थप्रधान होगई। व्यक्तिरचना स्वार्थमय बन गई। राज्यरचना अन्यायशस्त्रमय बन गई। और विश्वरचना [illegible] बन गई। भारत में इतने धर्मगुरुओं और नीतिधर्मप्रेरकों के होते हुए भी राष्ट्रीय और आर्थिक दृष्टि से गुलामी छागई। नये विदेशी शासकों से धर्मगुरुओं का अनुबन्ध रहा ही नहीं, फलतः उनको किसी प्रकार की प्रेरणा न दी जा सकी।

अनुबन्ध बिगड़ता या टूटता कैसे? सुधरता या जुड़ता कैसे?

बुद्धभगवान् को गृहस्थजीवन में अतिभोग ने घेर लिया था। उस समय उन्हें रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु के तीन प्रसंगों से वैराग्य उमड़ा। फलतः उनके जीवन में अतितप और अतित्याग आगए। इस कारण जीवन में सन्तुलन नहीं आया। अन्ततः उन्हें सितार के तारों के सन्तुलन के मधुर संगीत से मध्यममार्ग या समतुलामार्ग की प्रेरणा मिली और उसके प्रयोग से उनका भाग्यसूर्य चमक उठा।

इसी प्रकार इस सृष्टि में जब सन्तुलन बिगड़ जाता है, तो उसकी तालबद्धता बिगड़ जाती है। एक जगह बिगड़ी हुई तालबद्धता का असर सारी सृष्टि पर पड़े बिना नहीं रहता। यह जरूर है कि निकटवर्ती प्रदेश या प्राणी पर उसका असर अधिक होता है, दूरवर्ती पर कम। परन्तु यह निश्चित है कि विश्व के एक कोने में हुए आन्दोलन का असर दूसरे कोने तक जा पहुँचता है। जैनसूत्र इस कथन का

साक्षी है। ताजा उदाहरण लीजिए। जापान ने दूसरे विश्वयुद्ध में अणुबम का शिकार बन कर, काफी कड़वा अनुभव किया, परन्तु उसके साथ ही अन्य राष्ट्रों और यहाँ तक कि खुद अणुबम–प्रयोगकर्ता राष्ट्र तक को इससे अब घृणा हो चुकी। आज जो छोटे-बड़े अणुअस्त्रप्रयोग द्वीपों में समुद्रमें, रेगिस्तान में या आकाश में हो रहे हैं उनका विषैला प्रभाव जड़ और चेतन सारी सृष्टि पर पड़ा है और उसका कटुफल उसे भोगना पड़ रहा है। विश्व के वायुमण्डल पर उसका जहरीला प्रभाव पड़ा है। सामान्य मानवजाति भी इन प्रयोगों की ओर घृणा की दृष्टि से देखने लग गई है। इसके फलस्वरूप कहीं बरसात कम पड़ती है, कहीं ज्यादा, कहीं बिलकुल नहीं। समशीतोष्ण प्रदेशों में भी ऋतुओं की बड़ी अनियमितता होगई। इस प्रकार तालबद्ध चलनेवाले जगत् पर इसका कितना असर हुआ है? और जगत् की तालबद्धता कितनी बिगड़ी है? समतुला कितनी टूटी है?

इसी तरह विश्व में किन्हीं तत्वों का सन्तुलन बिगड़ने पर अनुबन्ध बिगड़ जाता है। विज्ञान और धर्म में जब विज्ञान धर्मसीमा का अतिक्रमण कर देता है तब संसार में सन्तुलन बिगड़ता है, इसी प्रकार राजनीति धर्म के प्रभाव के नीचे नहीं रहे और समाज व धर्म के मार्ग में हस्तक्षेप करे, सिर पर हावी हो जाय तो सन्तुलन बिगड़ जाता है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ बताए गए हैं उनमें से अर्थ और काम को धर्म के अंकुश में रख कर चलाने पर ही सन्तुलन रह सकता है, अन्यथा सन्तुलन बिगड़ जाता है। इसी प्रकार भौतिक जगत् में अणुअस्त्रों का व्यवस्थित सन्तुलन न रखा जाय तो अनुबन्ध बिगड़ता है। आध्यात्मिक शक्ति, नैतिकशक्ति, जनशक्ति और दण्डशक्ति इनमें से अगर दण्डशक्ति प्रधानता ले ले, वही सर्वोपरि मान ली जाय तो संसार का सन्तुलन बिगड़ जाता है।

एक बड़ा कारखाना है। उसकी मशीनों को चलाने वाला इञ्जिनियर मशीनों और कलपुर्जों को यथास्थान न जोड़े एक पुर्जे की जगह दूसरा पुर्जा फिट कर दे, एक मशीन के स्थान पर दूसरी मशीन लगा दे तो मशीन चलेगी नहीं सारा कारखाना बन्द हो जायगा। जब वह इञ्जिनियर उन मशीनों और कलपुर्जों को यथायोग्य स्थान पर लगायेगा, तभी वह कारखाना ठीक तरह से चलेगा। इसी प्रकार विश्व को गतिशील करने वाले विविधतत्त्वों विचारों और प्राणियों को जब विश्व का अनुबन्धकार यथायोग्य स्थान पर व्यवस्थित रूप में जोड़ देता है, जिस तत्त्व विचार या प्राणी का जहाँ स्थान है उसे वहीं स्थान देता है तो विश्व सम्यक्प्रकार से व्यवस्थित और सुखी रहता है। किन्तु यदि अनुबन्धकार प्रमादी बन कर इस मुद्दे की बात को भूल जाता है योग्य को अयोग्य का स्थान और अयोग्य को योग्य का स्थान दे देता है अप्रतिष्ठा लायक तत्त्वों को प्रतिष्ठा दे देता है और प्रतिष्ठय (प्रतिष्ठा के योग्य) तत्त्वों को अप्रतिष्ठित कर देता है तो वहाँ अनुबन्ध बिगड़ जाता है, या टूट जाता है।

जैसे कोई स्वर्णकार मस्तक के गहनों को पैर में पहनाने लगे, या पैर के गहनों को मस्तक में पहनाने लगे या सोने के पात्र में जड़ने योग्य हीरे-मोतियों को पीतल के पात्र में जड़ने लगे अथवा पीतल के पात्र में जड़ने योग्य वस्तु को सोने के पात्र में जड़ने लगे तो इसमें स्वर्णकार की अयोग्यता साबित होती है और अयोग्य को योग्य की प्रतिष्ठा मिल जाती है और योग्य अप्रतिष्ठित हो जाता है, या प्रतिष्ठा से वंचित रहता है। इसी प्रकार का कार्य अनुबन्धकार करता है तो विश्व में अनुबन्ध बिगड़ जाता है।

अनुबन्ध बिगड़ गया है इसका मतलब यही है कि अप्रतिष्ठा के योग्य या दुर्गुणी तत्त्व प्रतिष्ठा प्राप्त कर गये हैं। जब 'सद्गुणी,

या प्रतिष्ठा के योग्य व्यक्तियों, संस्थाओं या समाज की प्रतिष्ठा छीन कर दुर्गुणों, प्रतिष्ठा के अयोग्य व्यक्तियों संस्थाओं या समाजों को प्रतिष्ठा देदी जाती है या अनुबन्धकारों की उपेक्षा या प्रमाद से प्रतिष्ठा मिल जाती है, तब अनुबन्ध बिगड़ जाता है।

सम्यक्‌दृष्टि के अतिचारों (दोषों) में जो 'मिथ्यादृष्टि-प्रशंसा' और 'मिथ्यादृष्टि का संस्तव (प्रतिष्ठा) नामक दोष बताए हैं उनका, तात्पर्यार्थ यही है कि जो संस्था समाज या व्यक्ति दुर्गुणी हैं (भले ही वे उच्च से उच्च धर्म के अनुयायी हों) अन्यायी, अत्याचारी, शोषक हैं या हिंसा असत्य के विचारों वाले हैं, महारंभी महापरिग्रही हैं, सच्च धर्म की दृष्टि से विहीन हैं, अर्थ, काम, प्रधान भौतिक और स्वार्थीदृष्टि वाले हैं, उन्हें सार्वजनिक प्रतिष्ठा न दी जाय उनकी उन दोषों के सन्दर्भ में सार्वजनिक प्रशंसा न की जाय। "क्योंकि ऐसा करने से अनुबन्ध बिगड़ता है, खोटे मूल्यों को पोषण मिलता है, अच्छे मूल्यों की प्रतिष्ठा में रुकावट आती है, योग्य व्यक्तियों के लिए धर्ममार्ग बन्द होजाता है।

इस प्रकार जब अप्रतिष्ठा के योग्य व्यक्ति, संस्था या समाज को प्रतिष्ठा दे दी जाती है अथवा अन्याय, अत्याचार, आदि दुर्गुणों को फैलने दिया जाता है या रोका नहीं जाता, उन्हें प्रत्यक्ष-परोक्षरूप से प्रोत्साहन दिया जाता है, सेवा की जगह सत्ता को, न्याय की जगह धन को और मानवश्रम की जगह यन्त्रों को अधिक महत्त्व दे दिया जाता है तब अनुबन्ध बिगड़ता है; संसार में अशान्ति बढ़ती है दुःख बढ़ जाता है। और ऐसा करने से योग्य व्यक्ति, संस्था या समाज के साथ अनुबन्ध टूट जाता है।

भारतीय संस्कृति के अनुबन्धकारों ने सांस्कृतिक क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्व ये बताये थे—(१) नारीपूजा (२) लोकभाषा

की प्रतिष्ठा, (३) गोवंश और भूमि के प्रति मातृभाव (४) महाव्यसनों का सर्वथा निषेध (५) ऋषिसमाज तथा जनसमाज की अपेक्षा राज्य को गौण मानना (६) अतिथिसत्कार (७) सच्ची वर्णाश्रमव्यवस्था के प्रति आदर (८) चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्यलक्षिता। किन्तु इन सांस्कृतिक तत्त्वों की जब-जब भारत में उपेक्षा हुई है, तब-तब अनुबन्ध बिगड़ा है। अर्थात् जब से भारत में नारीपूजा की जगह नारी-तिरस्कार हुआ है, नारी के अधिकार छीने गए हैं उसके प्रति अन्याय किया गया है, लोकभाषा के बदले विदेशी भाषा को प्रतिष्ठा दी गई है गोवंश के प्रति उपेक्षा की गई, भूमि के प्रति मातृभाव न रह कर स्वामित्वभाव रखा जाने लगा, महाव्यसनों का प्रबल प्रचार होने लगा, उनको सरकारी प्रोत्साहन मिलने लगा, ऋषिसमाज (साधुसंस्था) और जनसमाज की उपेक्षा करके या इन्हें गौण करके राज्यसंस्था को अत्यधिकमहत्त्व दिया जाने लगा। अतिथिसत्कार के प्रति विमुखता विशेषतः शहरों में होने लगी तथा सच्ची वर्णाश्रमव्यवस्था के नाम से जातपांत, छूआछूत, ऊँचनीच के भेद खड़े करके शब्दजड़ता में फंस कर वर्णाश्रमव्यवस्था के युगानुरूप सही विकास में अन्तराय खड़े किये गये, चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम) का मूल अधिष्ठान ब्रह्मचर्य था, वह अधिष्ठान आज हिल गया। गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्यरक्षा के बदले कृत्रिमसन्ततिनिरोध के नये-नये उपाय अपनाए जाकर झूठे विलासीजीवन की छूट में सुख माना जाने लगा। इन सब मूलभूत सांस्कृतिक तत्त्वों के नष्ट होते या इन तत्त्वों की प्रतिष्ठा कम होते देख कर भी साधुवर्ग उदासीन रहा, तभी से अनुबन्ध बिगड़ा है। यह भारत के अनुबन्धकार साधकों के लिये सोचनीय वस्तु है। कहना होगा कि महात्मा गांधीजी द्वारा इन तत्त्वों के अनुप्राणित करने का सतत प्रयत्न होते हुए भी साधुसंस्था, जिसका कि यह मुख्य कर्त्तव्य था, नहीं चेती।

बापू ने जब यह देखा कि राजनैतिक क्षेत्र धर्मपुनीत नहीं रहा है, तब उन्होंने अपनी काया घिस कर भी राजकीय क्षेत्र में बिगड़े हुए अनुबन्ध को सुधारना शुरू किया। बापू से एकबार काका कालेलकर के पूछे जाने पर कि, आप राजनीति में क्यों पड़े?' बापू ने उत्तर दिया—'मैं मोक्ष की प्राप्ति के लिए राजनीतिक कार्य करता हूँ। प्रत्येक युग में अधर्म अपना अड्डा जमाने के लिए कोई खास जगह पसन्द कर लेता है और उसमें पूर्णतया व्याप्त हो जाता है। आजके जमाने में अधर्म राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश कर बैठा है वहाँ से उसे हटा कर धर्म को प्रस्थापित करना है। यदि मैं इस कार्य को न कर सका तो मुझे मोक्ष नहीं मिल सकता। यह ईश्वर का दिया हुआ कार्य है।'

इस उपर्युक्त उद्धरण से हम समझ सकते हैं कि बापू मानव जीवन के राजकीय, सामाजिक, आर्थिक धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, कौटुम्बिक आदि क्षेत्रों में से किसी भी क्षेत्र में कोई भी अप्रतिष्ठ या अनिष्ट तत्त्व घुस जाता तो उसे अप्रतिष्ठित करने और प्रतिष्ठ को प्रतिष्ठित करने का सतत प्रयास करते थे। इसलिए अनुबन्धकार साधक को तो सतत सतर्क रहना है कि किसी भी द्वार से अधर्म, अनिष्ट या अप्रतिष्ठायोग्य तत्त्व प्रविष्ट न होजाय, नहीं तो अनुबन्ध बिगड़ने और प्रतिष्ठतत्त्व से अनुबन्ध टूटने का खतरा है।

इस्लाम मजहब में एक जगह बताया है कि 'इबादतगार को हर वक्त बाहोश रहना चाहिए, खुदा के प्यारे गुणों या सद्गुणों को अपनाना चाहिए, नहीं तो, शैतान इसी फिराक में रहता है कि कब खुदाबंद गाफिल हो और कब मैं घुसू। इसका आशय भी यही है कि अनुबन्धकार साधक को प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए अनुबन्ध बिगड़ने या टूटने न देना चाहिए। जैनधर्म का साधक प्रतिक्रमण

के अन्त में बोलता है कि मिच्छामि दुक्कडं का प्रतिक्रमण न किया हो तो उसका दोष निष्फल (मिच्छामि दुक्कडं) हो उसका मेरी दृष्टि से यह अर्थ होना चाहिये कि भूतकाल के बिगड़े हुए अनुबन्ध को सुधारा न हो, वर्तमानकाल में अनुबन्ध जोड़ने या सुधारने का मौका चूक गया हूँ, और भविष्य में अनुबन्ध न बिगड़े या न टूटे, इसकी चिन्ता न की हो, तो उसका पश्चात्ताप सहित आलोचन करता हूँ। इस प्रकार की सतत सावधानी रहने से ही अनुबन्ध बिगड़ता रुक सकता है

इसी प्रकार अनुबन्ध तब बिगड़ता है जब आज के विश्व में एक ओर पूंजीवाद और साम्यवाद, उपनिवेशवाद और जातिवाद फैल रहा हो, तब अगर धर्मगुरु विश्ववात्सल्य न रख कर मूडीशाहीवाद तथा धर्ममय समाजवाद की अवगणना करे और पूर्वोक्त वादों को खुल कर खेलने दे।

साथ ही अनुबन्धकार धर्मगुरुओं को अनुबन्ध न बिगड़े इसके लिए धर्मान्तर या सम्प्रदायान्तर कराने की वटाळवृत्ति का कार्य रोकना पड़ेगा। अन्यथा अनुबन्धकार के प्रति लोकश्रद्धा नहीं जमेगी और जनता के साथ उसका वात्सल्यसम्बन्ध टिक न सकेगा।

कभी कभी अनुबन्धकार की गफलत से उलटा अनुबन्ध जुड़ जाता है। उसका कारण यह कि समाज में कोई छोटी-सी भूल या त्रुटि हो जाती है, चलाई जाती है, वहीं साधक चेतता नहीं, इससे बढ़ते बढ़ते गुनहखोरी तक पहुँच जाती है। तब वह या समाज चेतता है। साधक पहले तो यह सोचता है कि मुझे क्या मतलब ? करेगा सो भरेगा। परन्तु एक कोने में आग लगी हो उसकी लपट हम पर कब आ धमकेगी और हमें जला देगी, यह कौन जानता है ? ग्राम के एक कोने में पड़ी हुई दुर्गन्धि सारे गाँव पर असर डालती है। कई बार लोगों का धर्म से अनुबन्ध नहीं जुड़ा होने पर लोकभ्रान्तियों से हिंसा पर उतर आते हैं,

ब्राए के बैठ हैं। इसलिए अनुबन्धकार का कर्तव्य है कि

अधर्म या हिंसा से समाज का उलटा अनुबन्ध न जुड़ जाय, या दण्डशक्ति जनशक्ति या नैतिकशक्ति पर हावी न हो जाय; इसका पूरा ध्यान रखे।

अनुबन्ध बिगड़ने और टूटने के बाद सुधारने के भूतकाल के अनेक उदाहरण धर्मशास्त्रों में हमें मिलते हैं।

रामायणयुग में रावण के कारण लंका का शासन सरमुख्त्यारशाही (तानाशाही) बना हुआ था, चारों ओर अन्याय, अनीति, परस्त्रीहरण आदि पाप फैल रहे थे, उस समय लंका की राजनीति पर नीति और धर्म का कुछ भी प्रभाव न था। मतलब, लंका का अनुबन्ध बिगड़ा हुआ था। किन्तु रामचन्द्रजी ने विभीषण वगैरह के निमित्त से लंका के बिगड़े हुए अनुबन्ध को सुधारा। लंका की राजनीति में न्यायनीति और सदाचार के तत्त्व प्रविष्ट कराये।

महाभारतकाल में दुर्योधन के कारण समाज और राज्य का अनुबन्ध बिगड़ा हुआ था। दुर्भाग्य की बात यह हुई कि अनुबन्धकार का कार्य करने योग्य द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और भीष्मपितामह जैसे सुपात्रों का उपयोग भी खोटे मूल्यों की प्रतिष्ठा में और समाज की अव्यवस्था में ही हुआ। साथ ही दुर्योधन की अनीति को दूर करने और उसे अप्रतिष्ठित करने के लिए श्रीकृष्ण जैसे तटस्थ पुरुषों ने काफी प्रयत्न किया किन्तु रामायणयुग में अनुबन्ध व्यवस्थित न होने के कारण महाभारतयुग में भाई-भाई के बीच युद्ध के दुर्दिन देखने पड़े। यद्यपि श्रीकृष्ण ने अन्याय की विजय न्याय पर न होने दी और न्याय व धर्म को ही जिताया। यह अनुबन्ध सुधारने का कार्य इस युग में अवश्य हुआ।

बुद्ध और महावीर के युग में समाज और राज्य का अनुबन्ध काफी बिगड़ा हुआ था। ब्राह्मणवर्ग में जात्यभिमान बढ़ गया था, श्रमनिष्ठ लोगों (सेवाकार्य करने वाले शूद्रजातीय लोगों) को अप्रतिष्ठित कर दिया गया था। जातिवाद के साथ-साथ उच्चनीचतावाद, छूआ

छूत, आदि अनिष्ट तत्त्व फलनेफूलने लगे थे। चारों वर्णों का यथा-योग्य स्थान छूट गया था। नारीजाति के मौलिक अधिकार छीन कर उसका तिरस्कार किया जाने लगा। स्त्रीपुरुषों को दासदासी बना कर सरेआम बाजार में बेचने की प्रथा जोर पर थी। राज्यसंस्था में सत्तालोभ बढ़ गया था। वैश्यजाति में परिग्रहवृत्ति बढ़ी हुई थी। शूद्रजाति का धर्मस्थानों में प्रवेश करने व धर्मश्रवण करने का अधिकार छीन लिया गया था। भगवान महावीर को इन सब बिगड़े या टूटे हुए अनुबन्धों को सुधारने और जोड़ने के लिए बहुत तप-त्याग करना पड़ा। उन्होंने धर्म के नाम से पशुबलि करने वाले तथा उनके कार्य का विरोध करने वाले मुख्य ब्राह्मणों को सम्यक् समझा कर उनसे अनुबन्ध जोड़ा। क्षत्रियों से उन्होंने अनुबन्ध जोड़ कर राज्यत्याग की अथवा राज्य की व्यक्तिगत सत्ता को छोड़ने और धर्म के झंडे के नीचे राजशासन चलाने की प्रेरणा की। इससे राजसंस्था में बिगड़ा हुआ अनुबन्ध काफी अंशों में सुधरा। वैश्यसंस्थाओं के अनुबन्ध को ठीक करने के लिए अर्थ के साथ धर्म दृष्टि की प्रेरणा दी। हरिकेशी और मेतार्य जैसे अतिशूद्र गिने जाने वाले, तथा अर्जुन मालाकार जैसे घृणित से घृणित पुरुषों को संघ में स्थान देकर अनुबन्ध व्यवस्थित किया। स्त्रीजाति के साथ समाज के बिगड़े हुए अनुबन्ध को सुधारने के लिए अभिग्रहरूप सम्पूर्ण तपोबल का प्रयोग किया और चन्दनबाला जैसी उस समय की दासीरूप में पददलित स्त्री को अपने साध्वीसंघ की शिरच्छत्रा बना कर नारीजाति की प्रतिष्ठा की। ब्राह्मणों में जात्यभिमान के कारण समाज का अनुबन्ध छिन्नभिन्न हो रहा था, ऐसे समय में श्वपाकगोत्रोत्पन्न हरिकेशी मुनि ब्राह्मणवाड़े में भिक्षा-चरी के निमित्त आकर यज्ञाभिमानी ब्राह्मणों को प्रतिबोध देकर अनुबन्ध जोड़ते हैं, जातिवाद को अप्रतिष्ठित करते हैं, ऐसे समय में कठोर परिषह सह कर भी वे ब्राह्मणों से अनुबन्ध जोड़ कर आते हैं। उस समय से श्रमण ब्राह्मणों के अनुबन्ध का सूत्रपात हो जाता है

भगवान महावीर के अनुयायी श्रमणोपासक सुदर्शन ने अर्जुन माली के साथ समाज और राज्य के बिगड़े हुए अनबन्ध को अपने आध्यात्मिक बल, निर्भयता और त्यागबल द्वारा सुधारा था। वहाँ राज्य और समाज से अनुबन्ध इसलिए बिगड़ा था कि राज्य और समाज के लोगों ने राजगृही नगरी के ६ ललित गोष्ठी (गुण्डा) पुरुषों के अन्याय, अनीति अत्याचार को चुपचाप सह लिया था या उन्हें खुली छूट दे दी थी अर्जुनमाली पर उसकी प्रतिक्रिया हुई और उसने ७ व्यक्तियों को प्रतिदिन मारने का उपक्रम किया।

श्रीरामचन्द्रजी को वशिष्ठ और वाल्मीकि जैसे तत्त्वज्ञ भी मिले अवश्य, पर जो काम जटायु गुहराज, भक्त शबरी वानरसेन, विभीषण हनुमान आदि कर सके वह दूसरों से नहीं हुआ। रामने बिगड़े हुए अनुबन्ध को सुधारने के लिए निचले स्तर के तथा अनार्य कहलाने वाले लोगों को चुन-चुन कर अपनाये, अनार्यों से अनुबन्ध जोड़ कर आर्य अनार्य-समन्वय सिद्ध कर बताया था।

श्रीकृष्णजी ने भी गोपालक और गोजाति के साथ बिगड़े हुए, टूटे हुए अनुबन्धों को सुधारे और जोड़े थे।

गर्दभिल्ल मुनि मयली राजा के साथ बिगड़े हुए अनुबन्ध को त्याग प्रेरणा देकर सुधारते हैं। मयली राजा के राज्य-त्याग से उनके बाद के अनेक राजाओं को राज्यतंत्र में त्याग और शुद्धि की प्रेरणा मिलती है।

प्रदेशी राजा की प्रजा तथा अनार्यभाव को जब उस समय की श्वेताम्बिका नगरी की प्रजा और समाजसरक्षक ब्राह्मणवर्ग तक चुपचाप सह लेते हैं, तब अनुबन्ध-विचारधारा के समर्थक श्रमणोपासक चित्तप्रधान को अनुबन्ध बिगड़ने की यह बात 'असह्य हो' उठती

है। वह कुनाल देश की राजधानी श्रवस्ती में प्रखर अनुबन्धकार मुनि केशीश्रमण के साथ पहुँच कर श्वेताम्बिका नगरी पधारने और राजा को सुधारने की प्रार्थना करते हैं और राजा के साथ अनुबन्ध जुड़ जाने से अनेक जीवों को प्रतिबोध का लाभ मिल सकता है, यही कहते हैं। मुनि केशीश्रमण घोर परिषह सहन कर श्वेताम्बिका नगरी पधारते हैं। अपने तपोबल और ज्ञानबल से राजा के साथ बिगड़े हुए अनुबन्ध को सुधारते हैं।

चित्रमुनि सम्भूति के जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के साथ बिगड़ हुए अनुबन्ध को सुधारने के लिए काफी प्रतिबोध देते हैं और अन्त में संयम के लिए प्रेरणा देते हैं।

महावीरशिष्य गौतमस्वामी पार्श्वनाथशिष्य केशीश्रमण के साथ विविध ज्ञानगोष्ठी और समन्वयदृष्टि द्वारा अनुबन्ध जोड़ते हैं।

इस प्रकार भ० महावीर ने समष्टि के साथ अनुबन्ध जोड़ने के लिए अपने तपोबल और आत्मबल द्वारा चण्डकौशिक विषधर को प्रतिबोधित किया जो उस प्रदेश की व्यवस्था और जनसमुदाय को नष्ट भ्रष्ट कर रहा था।

आचार्य हेमचन्द्र सिद्धसेन दिवाकर, कालकाचार्य हरिभद्रसूरि, हरिसिंहसूरि, हीरविजयसूरि, शीलगुणसूरि, जिनदत्तसूरि रत्नप्रभसूरि, आदि जैनाचार्यों ने विभिन्न समय में, विभिन्न क्षेत्रों में बिगड़ हुए या टूटे हुए अनुबन्धों को जोड़ने का भरसक प्रयास किया था।

महात्मा गांधीजी एक सच्चे अनुबन्धकार साधक थे। उन्होंने भारत देश की और विश्व की बिगड़ती हुई व्यवस्थिति को देखा, चारों वर्णों का अनुबन्ध बिगड़ा हुआ देखा, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में अनुबन्ध बिगड़ा हुआ देखा। राजकीयक्षेत्र में ब्रिटिश शासन के आने से समाज, धर्म, कुटुम्ब, ग्राम, नगर, एवं राष्ट्र की

व्यवस्था भारतीय संस्कृति की दृष्टि से काफी अस्तव्यस्त होगई थी।
सर्वत्र अन्याय, अत्याचार एवं अनीति प्रविष्ट होगई थी। ऐसे समय
में बापू ने सर्वप्रथम अफ्रिका में भारतीयों के सहयोग से
अपना अहिंसक प्रयोग शुरू किया। विश्व में जिस समय शस्त्रपूजा
का बोलबाला था, हिटलर, मुसोलिनी, टोजो वगैरह हिंसावादी लोगों
की प्रतिष्ठा थी, विश्व की राजनीति में अधर्म ने अड्डा जमा लिया
था। उस समय बापू ने निःशस्त्र प्रतीकार, सविनय कानूनभंग और
असहकाररूप तपत्याग के बल से विश्व को अहिंसा का चमत्कार
और राजनीति में से अधर्म को दूर करने का जीवनपर्यन्त
किया। चारों वर्णों की व्यवस्था छिन्नभिन्न थी, उसे फिर से
में सजीवन की। कांग्रेससंस्था के द्वारा उन्होंने नये क्षत्रियों
और यही सिखाया कि 'मारने का नाम मत लो,
ग्रामों में खादी-ग्रामोद्योगों के पुनरुज्जीवित करने के
नात्मक कार्यकर्ताओं को कुछ रचनात्मक कार्यक्रम
अनुबन्ध जोड़ने को भेजा। इस प्रकार उन्हें
तैयार किए। साथ ही मजदूरों और महाजनों (
परस्पर अनुबन्ध टूट रहा था, उसे जोड़ने तथा
उपवास, सत्याग्रह व द्वारा संघर्ष प्रयत्न
नामक एक संयुक्तसंस्था स्थापित की। भंगी,
अस्पृश्य कहलाने वाले सेवाजीवी लोगों के
कर उनकी आत्मा, तिलमिला उठी है
सत्याग्रह और उपवास किए और अन्त में
और 'हरिजन-सेवक-संघ' स्थापित
इसी प्रकार गांवों के मजदूरों और
के लिए उन्होंने भरसक प्रयत्न।
और घनश्यामदास बिरला जैसे वैश्यों

नइ दृष्टि दी । अंग्रेजों के साथ जो भारत का अनुबन्ध बिगड़ा हुआ था, वह सुधारा । अंग्रेजों के भारत से राज्य छोड़ कर चले जाने के बाद भी उनके साथ भारत का मैत्रीसम्बन्ध कायम रक्खा । इसलिए स्वराज्य मिलते ही सर्वप्रथम लॉर्ड माउन्टबेटन नामक अंग्रेज को वायसरॉय पद पर नियुक्त करवाया ।

स्वराज्य प्राप्त होते ही महात्मा गांधीजी की यह इच्छा थी कि कांग्रेस को अब लोकसेवकसंघ में परिणत कर देना चाहिए या 'लोकसेवकसंघ' भारत में से खड़ा होना चाहिए, जो कांग्रेस से स्वतन्त्र रह कर, समाजिक आर्थिक क्षेत्रों में स्वतन्त्ररूप से आत्मलक्षी ढंग से काम करने वाला हो, राजनैतिक क्षेत्र में कांग्रेस के साथ उसका अटूट सम्बन्ध अवश्य हो जिससे कांग्रेस शुद्ध रह सके और अंकुश में भी रह सके तथा सत्ताधीन रह कर वह देश विदेश में काम कर सके । साथ ही बापू ने रचनात्मक कार्यकर्ताओं के विभिन्न संघों का एकीकरण करने के लिए 'गांधीसेवासंघ' स्थापित किया था । यद्यपि वह अधिक वर्षों तक चल न सका । इसलिए बापू ने उसे विलीन कर दिया । परन्तु बापू का आशय यह था कि भारत अपनी संस्कृति के सहारे सदा आगे बढ़ा है इसलिए अब भी गांधीसेवकसंघ प्रेरक) और लोकसेवकसंघ (पूरक) के साथ राज्यसंस्था अनुबन्धित होनी चाहिए, ताकि राजसत्ता लोकसत्ता पूरक और ऋषिसत्ता (प्रेरक) पर हावी न होजाय। बापू के दिमाग में ग्रामजनता को, ग्रामों की ८५ प्रतिशत जनता को कांग्रेस की पूरक बनाने की बात थी । वे चाहते थे कि ग्रामों और शहरी मजदूरों की नैतिक संस्थाएँ कांग्रेस की पूरक रहें और समाजिक आर्थिक क्षेत्र में वे स्वतन्त्ररूप से काम करें । रचनात्मक कार्यकर्ताओं के संघ को वे प्रेरक के रूप में कांग्रेस के साथ अनुबन्ध जोड़ना चाहते थे परन्तु दुर्भाग्य से स्वराज्य के बाद हिन्दू मुस्लिमएकता, शरणार्थियों की समस्या आदि कुछ पेचीदे प्रश्न बापू के सामने

उनका देहावसान होगया । कांग्रेस में बिगड़े हुए अनुबन्ध को सुधारने और उसको शुद्ध रखने के लिए पूरक प्रेरक बल की उनकी कल्पना साकार न हो सकी। यद्यपि बापू पिछले वर्षों से कांग्रेस के सदस्य नहीं रह थे, फिर भी कांग्रेस के साथ उनका बराबर अनुबन्ध था और अ त तक उ होंने दूसरे किन्हीं और पक्षों का समर्थन नहीं किया, उसका कारण यह था कि समाजवादी और साम्यवादी पक्षों का जन्म और पालनपोषण विदेशों में हुआ है अत वे भारतीय संस्कृति के अनुकूल न थे और न हैं । इनका प्रेरकबल सत्ताप्राप्ति द्वारा सेवा का है, जो भारतीय संस्कृति से विरुद्ध है कौमवादी पक्षों का तो भारतीय संस्कृति के साथ मेल है ही नहीं। कौमवाद तो भारतीय संस्कृति के सिर पर काला कलंक है । कौमवाद के जहर ने बापू को खोया, भारत को लम्बे काल तक पराधीन बनाया, भारतीय संस्कृति को नष्टभ्रष्ट किया । कांग्रेस ही एकमात्र भारतीय संस्कृति के अनुरूप थी और है । बापू कांग्रेस-संस्था के माध्यम से भारत द्वारा अन्तराष्ट्रीयक्षेत्र की राजनीति में अहिंसा-सत्य को लाना चाहते थे ।

किन्तु दुर्भाग्य से कांग्रेस आज बेलगाम होगई है । वह न तो प्रेरकबलों (रचनात्मककार्यकरसंगठनों) के साथ अनुबन्ध जोड़ना चाहती है और न पूरक (जनसंगठनों) के साथ ही। इसीलिए राज्य-क्षेत्र में अनुबन्ध बिगड़ गया है ।

महात्मा गांधीजी के अवसान के बाद अनुबन्ध सुधारने और जोड़ने का काम पहले से ही भारत के विचारक साधुवर्ग को सभाल लेना चाहिए था, अंग्रेजों और मुगलशासकों के आने और भारत पर राज्य जमाने से पहले ही समझ जाना चाहिए था, किन्तु दुर्भाग्य से मध्ययुग में भी एकान्तवाद और पृथक्तावाद का ऐसा प्रवाह आया कि मानवजीवन के एकाध क्षेत्र को छोड़ कर प्रायः सभी क्षेत्रों से साधुओं ने

अनुबन्ध तोड़ दिया था। छिछले साम्प्रदायिक क्रियाकाण्डों और पूंजी वाद के पुराने गीत गाने में ही इन्होंने कर्तव्य की इतिश्री मान ली। फलतः अनुबन्ध टूटने का कुफल सारे देश और समाज को भोगना पड़ा। महात्मा गांधीजी भारत के साधुसाध्वियों से बहुत बड़ी आशा रखते थे, वे अपने से साधना में अल्प साधुसाध्वियों को भी उनकी बड़ी जवाबदारी और महान् प्रतिज्ञा होने के कारण आदर देते थे। और कहते थे कि साधुसाध्वियाँ अपने सम्प्रदाय और धर्म में रहकर बटाक वृत्ति और साम्प्रदायिकता की वृत्ति को छोड़ कर बहुत बड़ा कार्य- धर्मप्रधानकार्य कर सकते हैं। किन्तु महात्मा गांधीजी के रहते साधु साध्वी पूरक, प्रेरक और राज्य यानी लोकसंगठन, रचनात्मककार्यकर संगठन और राज्यसंगठन इन तीनों के साथ अनुबंध जोड़ कर इनमें नकदधर्म को प्रविष्ट न करा सके। इस प्रकार अनुबन्धकारों की गैर जिम्मेदारी और लापरवाही के कारण उपर्युक्त तीनों संगठनों में बिगाड़ आगया। और राज्यसंगठन आज सर्वोपरि बन बैठा। यद्यपि संत विनो बाजी के प्रयास से भूदान, सम्पत्तिदान से लेकर ग्रामदान तक के विविध प्रयोग हुए, परन्तु वह अनुबन्धकारक व्यक्ति या संस्था के रूप में नहीं। सर्वसेवासंघ सिर्फ रचनात्मक कार्यों को करने वाली संस्था रही। उसका कांग्रेस जैसी बापू द्वारा प्रशंसित और शक्तिशाली महा संस्था से अनुबंध टूट गया, साधुसंस्था जैसी प्रेरकसंस्था से सर्वसेवा संघ का संस्थागत कोई अनुबन्ध रहा नहीं, जनसंगठन तो खास हुआ नहीं, किन्तु जनता से कार्यकर्ताओं का व्यक्तिगतरूप से सम्पर्क जरूर रहा। मगर कहीं-कहीं तो राहतवृत्ति की पूर्ति जितना ही, जनता के साथ सम्पर्क रहा। इस प्रकार अनुबन्धकारों की उपेक्षा के कारण राज्य, समाज, अर्थतंत्र वगैरह में सर्वत्र गड़बड़ घोटाला हुआ।

महात्मा गांधीजी पक्के अनुबंधकार थे। वे सोचते थे कि देश और दुनिया की क्या परिस्थिति है? कहाँ किसका अंकुश है? कौनसा

अनिष्ट तत्त्व कहाँ घुस रहा है ? कहाँ कौनसी कड़ी टूट रही है ? और जहाँ उन्हें अनुबन्ध बिगड़ता दिखता कि तुरत अपने तपत्याग के बल से सुधारने का प्रयास किये बिना न रहते। बंगाल में नोआखाली में हिन्दू-मुसलमानों का साम्प्रदायिक दंगा फूट पड़ा। एक दूसरे के प्राणों की होली खेली जाने लगी। उस समय अहिंसक अनुबन्धकार बापू उन बिगड़े हुए अनुबन्ध को जोड़ने के लिए पैदल नोआखाली दौड़ पड़े। जबकि अनुबन्धसंघ की जिम्मेवारीवाले साधुसाध्वी पंजाब में अनुबन्ध जोड़ने और सुधारने के आए हुए मौके का चूक कर अपने प्राण बचाने के लिए वहाँ से विमानों में बैठ कर भारत में आए। एक गृहस्थ जब अनुबन्ध जोड़ने के लिए अपने प्राणों को होमने के लिए तैयार हो गया था, तो क्या उनसे भी विशेष जिम्मेवारी लिए हुए छः काया (विश्व) के माता पिता और रक्षकबिरुदधारी पीछे रह सके। यह क्या कम आश्चर्य की बात है !

सद्भाग्य से बापूजी के अवसान के बाद आन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पं. नेहरू प्रत्येक बात की बारीकी से जाँचपड़ताल करते हैं और 'पंचशील' का झंडा लेकर सारे विश्वराष्ट्रों में अनुबन्ध जमने का भरसक प्रयास कर रहे हैं। उनकी शक्ति, मर्यादा और कार्यक्षेत्र तो सीमित है। फिर भी वे भारत प्रतिनिधि के रूप में तीसरे विश्वयुद्ध को रोकने का, रूस और अमेरिका का अनुबन्ध जोड़ने का और राष्ट्रों के उलझन भरे प्रश्नों को अहिंसा से, मध्यस्थप्रथा से सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। विश्वशान्ति के लिए प्रत्येक धर्मगुरु या शान्तिपरिषद् पुकार करते होंगे अपनी-अपनी संस्था द्वारा प्रस्ताव पास करते होंगे 'अणुबम पर प्रतिबन्ध' के लिए आवाज बुलंद करते होंगे, परन्तु भारतीय कांग्रेस के माध्यम से ज्यों ही पं नेहरूने आवाज कसी त्यों ही उसका जो असर पड़ा, वह किसी और की आवाज का नहीं दिखता। उसका कारण था पं नेहरू के पीछे राष्ट्रीयमहासभा का अनुबन्ध। यदि नेहरू के पीछे

रचनात्मक कार्यकर्ताओं के संगठन और ग्रामों के शुद्ध नैतिक संगठनों व धर्मिष्ठ के परामर्श में अनुबन्ध होता तो यह आवाज इतनी शक्तिशाली होती कि सारे समाज पर शीघ्र असर डाले बिना न रहती, और विश्व का अनुबन्ध सर्वांग और व्यवस्थित हो जाता।

परन्तु आज देश और साथ ही दुनिया का दुर्भाग्य है कि विविध संस्थाओं के अच्छे-अच्छे सुनिष्ठ व्यक्तियों तथा सत्य-अहिंसा के संदर्भ में चलनेवाली अच्छी-अच्छी संस्थाओं का धर्मसंस्था-महासंस्था के साथ अनुबन्ध प्रायः टूट सा गया है। सिर्फ औपचारिक सम्बन्ध कहीं-कहीं नजर आता है। इस कारण राष्ट्र का अनुबन्ध और व्यवस्था बिगड़ गई है।

आज का काल अनुबन्ध के लिए परिपक्व है उचित है, और वातावरण तथा परिस्थितियाँ भी अनुबन्ध के उपयुक्त हैं। महात्मा गांधीजी के प्रयत्नों से आज विश्वानुबन्ध का मार्ग साफ है। इधर विज्ञान ने भी एटमबमों से दुनिया को नजदीक लाकर अनुबन्ध के उपयुक्त वातावरण तैयार कर दिया है। यातायात के साधन शीघ्र हो गए हैं। अशोक के युग में जो अहिंसा प्रयोग सारे विश्व में न हो सका, महात्मा गांधीजी के जमाने में जो सत्य-न्याय और अहिंसा का पूरे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रयोग न हो सका, वह आज अनुबन्धसाधना द्वारा हो सकता है, बहुत शीघ्र और व्यापकरूप से हो सकता है। विश्व की सड़क अच्छी तरह साफ हो चुकी है। एक दिन दुनिया के अंधेरे कोने में पड़े हुए पीड़ित शोषित और पददलित जो राष्ट्र थे, वे भी आज जागृत हो कर तैयार हो गये हैं, अन्य राष्ट्र भी विश्वानुबन्ध की बात को अपनाने और सहयोग देने को तैयार हो रहे हैं। इस समय अगर विश्व में सामूहिक रूप से अहिंसा के विविध प्रयोग साधु-साध्वियों द्वारा अनुबन्धक तरीके से नहीं होंगे तो किनारे आई हुई नैया के पुनः डूब जाने की भीति है। यहाँ की जनता की धमनियों में

महावीर, बुद्ध, राम और कृष्ण का खून खेल रहा है। इस पर पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति तथा अर्थकामजन्य दोनों प्रकार की धूल अवश्य जम गई है। इसी कारण भारत की प्रजा अपनी संस्कृति के धर्ममूलक पाठों को भूल कर धन, सत्ता और वोटवक्रयों के चक्कर में पड़ी है, अपने प्रेरक-पूरकबलों को भूल कर राज्य की ओर ही दृष्टि गडाए हुए है। अप्रतिष्ठा के योग्य तत्त्वों को प्रतिष्ठा दे रही है। परन्तु यह अभी हुई धूल तो दूर हो सकती है, अनुबन्धकारों के शीघ्र और सच्चे प्रयत्नों से। अब तो अनुबन्धकारों को क्षणभर का प्रमाद किये बिना बिगड़े हुए अनुबन्धों को सुधारने के लिए अप्रतिष्ठ्य तत्त्वों को जो प्रतिष्ठा प्राप्त होगई है, उन्हें शीघ्र ही वहाँ से हटाकर, प्रतिष्ठायोग्य जो वर्ग या तत्त्व दब गये हैं, उन्हें शीघ्र ही प्रतिष्ठित बनाना चाहिए। लोभ की प्रतिष्ठा होरही हो, वहाँ त्याग की प्रतिष्ठा करनी चाहिए और अन्याय जीत रहा हो, वहाँ न्याय को जिताना चाहिए। राजनीतिक्षेत्र में देश की रुकी हुई शक्तियाँ दूसरे क्षेत्र के लिए निकालनी होंगी। जैसे गांधीयुग में रामराज्यवादी लोकशाही में माननेवाली संस्थाओं के सिवाय सभी अन्य राजकीय संस्थाएँ अप्रतिष्ठित कर दी गई थीं। दर्शनयुगमें सभी दर्शनों को मान्य करते हुए जैसे चार्वाकदर्शन को (भारतीय संस्कृति के अनुकूल न होने से) अप्रतिष्ठित कर दिया गया था। वैसे आज भी भारतीय संस्कृति के विरुद्ध चलनेवाली संस्थाओं को अप्रतिष्ठित करनी पड़ेगी। अन्यथा बिगड़े हुए अनुबन्धों को नहीं सुधारे जाने पर खोटे मूल्यों को विश्वप्रतिष्ठा मिलती जायगी और सच्चे मूल्यों की विश्वप्रतिष्ठा फीकी पड़ती जायगी। यह कार्य अगर द्रुतगति से नहीं हुआ तो रामयुग में जो नहीं होसका, वह शायद आज भी न होसके। और योग्य के स्थान में अयोग्य का संयोजन होने से विश्व में युद्ध, कलह, संघर्ष, दुःख वगैरह फूट निकलने का खतरा है।

अनुबन्ध सुधारने या जोड़ने में सहायक साधन।

अनुबन्ध सुधारने और जोड़ने के सम्बन्ध में इससे पहले काफी बातें कही जा चुकी हैं। फिर भी कुछ बातें और रह जाती हैं, जिन्हें यहाँ कहना अप्रासंगिक न होगा।

सर्वप्रथम अनुबन्ध सुधारने और जोड़ने वाले या अनुबन्धव्यवस्था स्थापित करनेवाले साधक को 'वसुधैव कुटुम्बकं' तथा 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' वाली भारत की तत्वदृष्टि को सामने रखकर साथ ही 'आत्मा को पहिचानो' इस आप्तवाक्य को न भूलते हुए चलना है। किन्तु भारतीय तत्वज्ञानियों ने जितना जोर इन तीनों वाक्यों पर दिया है, उतना ही जोर इनके साक्षात्कार में बाधक जीवन और जगत् के आवरणों को दूर करने पर दिया है। इसलिए बड़ी से बड़ी आकर्षक विभूति हो या संस्था हो, अगर वह जीवन और जगत् दोनों को साथ में न लेकर दोनों में से किसी एक को लेकर ही चलेगी तो कालान्तर में वह एकांगी और प्रभावहीन बने बिना नहीं रहेगी। और तब उसका मार्गदर्शन निष्प्राण बन जायगा और अनुबन्ध जोड़ने में वह निष्फल साबित होगी। भारत की उस उस काल की धर्मसंस्थाएँ और राज्यसंस्थाएँ इस बात की प्रबल प्रमाण हैं। गाँधीयुग का यह सद्भाग्य रहा कि वे (गाँधीजी) राज्य के साथ भी अनुबन्धित रहे और आमजनता के साथ भी। आज अगर अनुबन्धकार व्यक्ति आमजनता, प्रेरक (रचनात्मक कार्यकर) संगठन तथा राज्य तीनों से अलग रहा तो वही पूर्वोक्त खतरा उपस्थित होगा।

दूसरी बात अनुबन्धकार को यह देखनी है कि कहाँ किस तरह, वाद या विचार को कितना महत्त्व देना है? किस क्रम से किसका [illegible] उपयोग करना है? व्यक्ति, संस्था और समाज में [illegible] [illegible]तमा [illegible] किसको कितनी और कहाँ प्रतिष्ठा देना है, किसको प्र[illegible]ष्ठा नहीं देना है? इस बात का ध्यान नहीं रखा गया हो अ[illegible]बन्ध जोड़ा या सुधारा नहीं जासकेगा।

जैनधर्म में ज्ञान के १४ अतिचारों (दोषों) में दो अतिचार (दोष) इसीसे सम्बन्धित बताए गये हैं, वे क्रमशः इस प्रकार हैं — (१) सुदंदुदरिज्ज (२) दुदंदुवसिच्छिन्न । इनका अर्थ वहाँ ज्ञान के संदर्भ में यों किया है, जिसको शास्त्रज्ञान या ज्ञान देना है या जो ज्ञान के लिए पात्र है उसे ज्ञान न दिया हो और जो ज्ञान के लिए अपात्र है, उसे ज्ञान दिया हो । इसे व्यक्ति या संस्था की दृष्टि से यों घटाया जा सकता है - जो प्रतिष्ठा के योग्य व्यक्ति या संस्था हो उसे प्रतिष्ठा न दी हो और जो प्रतिष्ठा के योग्य न हो, उसे प्रतिष्ठा दी हो । यानी व्यक्ति, संस्था समाज तथा समष्टि इन सबका संतुलन इस बारेमें रखना चाहिए ।

भारतवर्ष के इतिहास में संस्था और व्यक्ति की ओतप्रोतता के अनेक उदाहरण मिलेंगे क्योंकि भारत में चार वर्णों और चार आश्रमों वाली पंरपरा हजारों वर्षों से चली आ रही है । व्यक्तिधर्म और समाजधर्म दोनों की एकरूपता का प्रवाह भारत में प्राचीनकाल से चला आरहा है । इतना ही नहीं, संन्यासंसंस्था का परम आशय भी यही रहा कि समाज को सम्पूर्ण समर्पण करने के बाद संन्यासी को अपना व्यक्तित्व विकसित करना और उसके विकसित हो जाने के बाद नवसमाजरचना के लिए सबकी आहुति देनी । जैनों के युग-युग में होने वाले तीर्थकरों द्वारा होने वाली नवसमाजरचना इसका नमूना है ।

इसलिए व्यक्ति और संस्था दोनों की शुद्धि और सुव्यवस्था मानवसमाज के लिए व अनुबन्धकार की पैनी दृष्टि के लिए जरूरी है । अब सवाल यह होता है कि किस व्यक्ति और किस संस्था को कितनी महत्ता या प्रतिष्ठा देनी चाहिए । महात्मागांधीजी एक अनुबन्धकार होने के नाते इस बात में खूब पक्के थे ।

जिस व्यक्ति के मन में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम हो, जो व्यक्ति मानवजाति के प्रति सतत हमदर्द रहता हो, जो सिद्धान्तनिष्ठ संस्था

है अपने आपको विलीन कर सकता हो जिसे स्वयं को मिला हुआ बहुमान काँटे की तरह खटकता हो; जो व्यक्ति मानवएकता के लिए अपने प्राण समर्पण करने को तैयार हो जो अपनी क्षति को स्वीकार करने के लिए तैयार हो, जिसे छोटे-से छोटे बालक से भी जानने की प्रबल जिज्ञासा हो, अपने से बड़े या बुजुर्ग के खिलाफ भी सत्यवस्तु के लिए प्रेम से लड़ने से और प्रखर विरोधी का भी अहिंसक सामना करने से जो नहीं हिचकिचाता हो, जिसे गुटबन्दी की बात नहीं अपितु अन्तःकरण से सूझे हुए सत्य आदर्श को अपनाने की तीव्रता हो यह व्यक्ति की सर्वोपरिता की कसौटी है। गांधीजी इस कसौटी में पास हुए थे। महात्मा गांधीजी इस युग में ऐसी ही एक विभूति थे। उनकी महत्ता स्वीकार किए बिना छुटकारा नहीं। उनके अवसान के बाद पंडित नेहरू का व्यक्तित्व उपर्युक्त कसौटी में पार उतरता है। पंडितजी में बापू की आध्यात्मिकता, बापू की सावधानी या उनके अहिंसा और तप न हों, यह स्वाभाविक है, किंतु उनके जीवन में बालक जैसा निखालिस दिल और जगत् के मानवों के साथ आत्मीयता शायद बापू से भी बढ़ कर हो सकते हैं। सत्यासमर्पण का गुण पंडितजी में कूट-कूट कर भरा है।

१ इस देशमें संस्थागतदृष्टि से धर्मसंस्था सर्वोपरि कही जा सकती है, किंतु दुर्भाग्य से आज यह साम्प्रदायिक क्रियाकाण्डों और साम्प्रदायिकता में फंस कर अपनी विश्वविशालता भूल गई है। अतः उपर्युक्त कसौटी से संस्था के रूप में कांग्रेससंस्था ही सर्वोपरि नजर आती है। यद्यपि स्वराज्य के बाद इसमें खराब से खराब व्यक्तियों का जमघट शुरू हो गया है, इसलिए इसे सजीव बनाने और शुद्ध रखने के लिए और लोकरुची लोकशाही का निर्माण करने और जनता को धर्मलक्षी बनाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीयक्षेत्र में उच्च नैतिक वातावरण तैयार करना है।

१ अनुबन्धकार को व्यक्ति और संस्था दोनों को बाहिर प्रतिष्ठा देते समय खूब सावधानी रखनी है। नहीं तो, अनुबन्ध बिगड़ जायगा

और सिद्धान्तनिष्ठा खत्म हो जायगी, अनुबन्ध टूट जायगा। इसी
लिए अपने राष्ट्र में बिखरी हुई व्यक्तियों और संस्थाओं को चुनचुन कर
एकत्रित करने वाले दीर्घदृष्टि अनुबन्धकारों की जरूरत है; जो धन और
सत्ता से पर ऐसी शुद्ध जनसेवकों की संस्था तैयार कर सकें और राज्य
को सक्रीय संस्था को शुद्ध और व्यवस्थित रखने के लिए उसके द्वारा
नैतिक प्रेरणा दिला सकें। साथ ही ग्रामों की शुद्ध नैतिक जनशक्ति
तैयार करके उसे राज्यसंस्था की पूरक रखकर सामाजिक-आर्थिक
क्षेत्र में स्वतन्त्र रख सकें। इस प्रकार की अनुबन्ध में मानने वाली
संस्थाओं और व्यक्तियों को जाहिर प्रतिष्ठा मिले और अल्पदृष्टि वाले
सिद्धान्तविहीन व्यक्तियों या संस्थाओं को कम महत्व दिया जाय तो
भारत द्वारा विश्वलक्षी अनुबन्ध हो सकता है।

इसके बाद अनुबन्धकार की दृष्टि इतनी पैनी होनी चाहिए कि
वह शीघ्र ही जान सके कि कौन व्यक्ति, संस्था, या राष्ट्र किस
है? कहाँ किस शुभबल या तत्त्व की कमी है? कहाँ
टूटती है? किस व्यक्ति, समाज, संस्था या राष्ट्र की
है? सामनेवाला किस विचारधारा या वाद को मानने
की धर्मप्रधान संस्कृति के वह कहाँ तक अनुरूप है?
विचार करने के बाद ही यथायोग्य स्थान देना
दिशा देनी चाहिए।

फिर अकेला अनुबन्धकार या उसका
वह चाहते हुए भी सारे विश्व के साथ अनुबन्ध
विश्व के बिगड़े हुए अनुबन्ध को सुधार
अनुबन्ध-विचारधारा के अलग-अलग
उनके योग से यह कार्य नहीं हो ... अकेला
वाले अनुबन्धकार और

जनसेवकसगठन और कमिशरूपी राज्यसगठन इनके साथ हों तो ही यह कार्य शीघ्र हो सकता है ।

एक बात यह है कि अनुबन्धकार को पुराने मूल्यों को बदल कर या पुराने गलत मूल्यों को रोक कर नये शुद्ध मूल्यों को स्थापना करने के सतत प्रयत्न करने पड़ते हैं । इसके लिए उसे समाज और संस्थाओं के सहयोग की पूरी जरूरत रहेगी । समाज के मूल्य युग-युग में बदलते रहते हैं । अनुबन्धकार युगदृष्टा बन कर नये मूल्यों को समाज या संस्थाओं के सहयोग से ही प्रतिष्ठित कर सकता है । नये मूल्यों को समाज में स्वेच्छा स्वीकृत कराने में भारी अड़चनें आती हैं ।

रामयुग में राजनैतिक, समाजिक आदि क्षेत्रों में मूल्य-परिवर्तन की जो प्रक्रिया सफल हुई उसमें गुरु वशिष्ट, विश्वामित्र, वाल्मीकि जैसे आचार्यों का ही नहीं हनुमान अंगद जैसे जनसेवकों का भी महान योगदान था । कैकेयी को ठिकाने लाने के लिय उनके पुत्र ने ही उल्लेखनीय काय किया । स्वय विभीषण अपने बड़े भाइ के खिलाफ युद्ध के मैदान में आ डटा था । सुग्रीव भी अपने बड़े भाई बाली के खिलाफ होगया था । इन सबके कारण नये मूल्य विश्वव्यापो प्रतिष्ठा पा सके थे । परन्तु यह आदृतिकार्य एकधारीला न रह सका, इसीलिए तो धोबी द्वारा राम की आलोचना शुरू हुई, उसे ठीक व्यवस्थित मोड़ न मिला, इतने में पुराने मूल्यों को दौड़ शुरू हुई । फिर क्रमशः सफलता हटती गई । फलत कृष्णयुग में महाभारत देखना पड़ा । महावीरयुग में यद्यपि सत्ता और धन की अपेक्षा जनता और श्रम को प्रतिष्ठा मिली, किन्तु उसके बाद फिर साधुसंस्था में दलबन्दी होनी शुरू होगई, धर्म के नाम से सकुचितता फैली । साधुसंस्था की समाज और राज्य पर कोई नैतिक चौकी न रही इसीलिए फिर साम्राज्यवाद और जातिवाद ने सिर उठाया । भारत में विदेशी-राज्यसत्ता आई । भारत गुलाम बना । इस प्रकार भारत और भारत के बाहर कई साधु संत हुए, कि तु सारे विश्व

में सभी क्षेत्रों के साथ सर्वांगी अनुबन्ध न हो सका हो तो सकता। पुराने मूल्य पर कर चुके थे। गांधीजी ने भारत को स्वराज दिलाकर फिर इसकी आध्यात्मप्रधान संस्कृति के अनुरूप कांग्रेस संस्था में नये प्राण फूंके। नये मूल्य स्थापित किए। और प्रत्येक क्षेत्र में पुराने गलत मूल्यों को उखाड़ने और नये सच्चे मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का काम किया। उन्होंने यन्त्रोद्योग की जगह ग्रामोद्योग गृहोद्योग पुरानी अंग्रेजी जमाने की शिक्षा की जगह नईतालीम, पुरानी धर्मव्यवस्था की जगह कांग्रेस तथा अन्य रचनात्मक संस्थाओं की स्थिति पैदा करदी। इस प्रकार उन्होंने जो अनेक क्षेत्रों में व्यक्तिगत और संस्थागतरूप से नए मूल्य स्थापित किए हैं उन्हें अब सभी क्षेत्रों में सुदृढ़ और चिरस्थायी बनाने का काम बाकी है। यह काम अकेली राज्यसंस्था नहीं कर सकती। अगर वह अकेली इस काम को करने लगेगी तो सत्य-अहिंसा को खतरे में डालेगी। अतः धर्मसंस्था के धुरंधरपुरुषों को सत्य अहिंसा को सुरक्षित रखते हुए विश्व में मूल्य परिवर्तन करने हों, तो उसके लिए क्रमशः तीन दबावों का उपयोग करना होगा उसके बिना पुराने मूल्य हटेंगे नहीं और समाज और विश्व में नये सच्चे मूल्यों का स्वेच्छा से स्वीकार न होगा। गांधीयुग में राज-क्षेत्र की संस्था में जैसे धर्म ने प्रवेश किया था वैसे ही इन तीन दबावों के द्वारा प्रत्येक क्षेत्र की संस्थाओं में धर्म प्रविष्ट हो जायगा तो राज्य, सत्तालोलुपता और धनलालसा इन तीन पुराने मूल्यों का जोर ढीला पड़ जायगा और इनके ढीले पड़ते ही नये मूल्यों का स्वेच्छा से स्वीकार करने को विश्व की समस्त जनता उत्सुक होगी।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इन तीनों दबावों का उल्लेख आता है। हजारों वर्षों से भारतीय संस्कृति को टिकाए और व्यवस्थित रखने में इन तीन दबावों ने महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया है।

भारत ने जगत् में से एक निश्चित सिद्धान्त निकाला है कि अगर समाज, संस्था, राज्य आदि का कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से उचित

दबाव स्वीकार न करे तो उसे समाज संस्था या राष्ट्र की सुव्यवस्था सुरक्षित रखने के लिए बाहर का दबाव स्वीकार करना पड़ता है। जैनशास्त्रों में इसके लिए दो शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं–प्रायश्चित्त और दण्ड। प्रायश्चित्त में व्यक्ति अपनी शुद्धि स्वयं करने के लिए स्वयं अपने पर दबाव लाता है जबकि दण्ड में आचार्य या संघ का नेता उसे शुद्ध–त्याग करने के लिए बाध्य करता है। और इस दशा में महान आचार्य के दिल में निग्रह के साथ अनुग्रह की भावना होती है। इसलिए उसे हिंसा नहीं अहिंसा ही कहा जाता है। जैनसूत्र उत्तराध्ययन में कहा गया है–

> अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
> अप्पा दंतो सुही होई अस्सिं लोए परत्थ य॥
> माऽहं परेहिं दम्मंतो बंधणेहि वहेहि य।

आत्मा दमन करने योग्य है। आत्मदमन (स्वयं दबाव) ही योग्य है। यद्यपि यह काफी कठिन होता है, तथापि आत्मदमन करने वाला व्यक्ति इस लोक और परलोक में सुखी होता है। आज के युग की भाषा में कहें तो अपने पर स्वयं दबाव डालने से अपना और सारे जगत् का भला होता है। दूसरों के द्वारा तब दबाव आएगा ही जब मैं अपने पर स्वयं दबाव न डालूँगा। इसलिए दूसरे मेरे पर वध या बंधनों द्वारा दबाव लावें इसकी अपेक्षा मैं स्वयं अपना दमन करूं, यह क्या बुरा है? बाह्यदमन में पराधीनता है, आत्मदमन में स्वाधीनता है।

किन्तु सर्वसामान्य जनता और संस्थाओं में प्रायः स्वयं दबाव (संयम) करने की वृत्ति बहुत कम होती है। और जब स्वयं दबाव नहीं होता तो समाज और संस्थाओं की व्यवस्था चौपट हो जाती है, अनिष्ट तत्व और उन्नत मुख्य फलने-फूलने लग जाते हैं। इसी दृष्टि को लेकर प्राचीन भारतीय समाजशास्त्रियों ने तीन दबाव क्रमशः निश्चित

किये थे –(१) आध्यात्मिक दबाव (२) नैतिक–सामाजिक दबाव और (३) राजकीय दबाव।

(१) जैसे हमारे शरीर में रोग न हो उसके लिए खानपान और रहनसहन सादा रखना उचित है, किन्तु कदाचित् रोग होजाय तो उपवास मिट्टी, पानी, हवा सूर्यप्रकाश वगैरह प्राकृतिक उपचारों से रोग मिटाना सर्वोत्तम चिकित्सापद्धति है। यद्यपि इसमें काफी समय लगता है, संयम भी काफी रखना पड़ता है और तकलीफ भी थोड़ी देखनी पड़ती है, परन्तु यह इलाज स्थायी है। शीघ्र रोग मिटा देने वाली एलोपथी आदि पद्धति से इलाज करें तो एक रोग मिटेगा, दूसरा खड़ा हो जायगा। मूलभूत शक्ति कम हो जायगी, शरीर भी सत्वहीन और दवाओं के आधार पर टिका रहनेवाला बन जायेगा। विश्व–समाज के शरीर के लिए भी यही बात है। शुरू में उस पर आध्यात्मिक दबाव से उसे पारावार कष्ट होगा, परन्तु बाद में सुखानुभव होगा। बड़ी तकलीफें आने से रुक जायेंगी। जनपरिभाषा के अनुसार सारे जगत् के मातापिता बनना चाहने वाले, वैदिक परिभाषा के अनुसार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' या विश्वमानव बनना चाहने वाले जब विश्व में इस प्रकार के गलत मूल्यों, अनिष्ट तत्वों का प्रवाह आता देखते हैं तो स्वेच्छा से अपने पर आध्यात्मिक दबाव स्वीकार करते हैं। वह यह स्वेच्छा से स्वीकृत दबाव भारी नहीं लगता। उलटे, विश्वदुःख कम होने पर वह स्वपर के लिए अत्यन्त सुखरूप होता है। जबकि ऐसे विश्वमानव के निकटवर्ती जनों को यह दबाव खूब प्रेरक होता है। और जगत् को भी प्रारंभ में घबराहट पैदा करने वाला, दिल दहलाने वाला होता है। किन्तु अन्त में उससे सबको सुख ही होता है। महात्मा गांधीजी ने हिन्दु धन के कलंकरूप अस्पृश्यता के निवारण के सम्बन्ध में जब आमरण अनशन किया था, तब सारा देश घबरा उठा था। परन्तु इससे अनेक पण्डितों व धर्मनायकों ने युगधर्म को पहिचान लिया था और देश व दुनिया को बड़ा लाभ हुआ था। हिन्दु मुस्लिम एकता के लिए दिल्ली

में किया गया आमरण अनशन भी इसी प्रकार का था। उनका शरीर महासमाज का बन गया होने से प्रारंभ में महासमाज को दुःख होता है किन्तु परिणाम एकान्त सुखरूप ही होता है। इसी तरह भूतकाल में इस देश में महादुष्काल पड़ा उस समय अनेक जैनगृहस्थ श्रावकों ने संस्कृतिरक्षा (उत्कृष्ट अतिथि के आदररूप) के लिए स्वयं भूखे मर कर भी साधुओं को दान दिया था। इसी संस्कृति को चिरस्थायी बनाने के लिए स्वयं साधुगण ने भी अनशन व० करके प्राण त्याग कर दिये थे और स्वयं मर कर दूसरों को जिलाने की अमर संस्कृति को सुरक्षित रख गये थे। इसलिए आध्यात्मिक दबाव का स्पष्ट और व्यावहारिक अर्थ यह होगा व्यक्तिगत रूप से अनुबन्धकार और सामूहिक रूप से सात्त्विक नरनारियों के बलिदान की धारा प्रवाह प्रक्रिया।

(२) व्यक्ति या समूह की भूल हो तब निश्चितसिद्धान्तों वाली समाज या संस्था अहिंसक दिशा सामने रख कर सामाजिक असहकार का कदम उठाती है। इसमें तप-त्याग के साथ व्यवस्थित जनसंगठन कानूनरक्षा के साथ अहिंसक प्रतीकारक आन्दोलन चलाते हैं। इस प्रकार का आन्दोलन रचनात्मक कार्यकरों की सर्वांगीदृष्टिवाली संस्था के मार्गदर्शन में और विश्वानुबन्धी साधुसाध्वी की प्रेरणा से चलता है।

उस समय पूरी सावधानी के साथ लाया हुआ यह नैतिक सामाजिक दबाव भूल करने वाले व्यक्ति या समूह के दिल पर असर करता है। हाँ, यह बात जरूर है कि चारों ओर का सहयोग न हो तो जिस संस्था वर्ग या व्यक्ति के प्रति यह प्रयोग किया जाता है उस पर सीधा असर नहीं भी होता। परन्तु उसकी प्रतिष्ठा समाज में टूट जाती है, जिससे खोटे मूल्य की प्रतिष्ठा नहीं जम पाती। एक बात खास याद रखनी चाहिए कि नैतिकसामाजिक दबाव लाने के लिए किए गये प्रयोग में पूरी सावधानी न रखी जाय या सर्वांगी संस्था के मार्ग

उसके बाद किए हुए आध्यात्मिक दबाव का प्रयोग भी असरकारक सिद्ध नहीं होता। आज की दुनिया में यह दशा स्पष्ट नजर आती है। इसी कारण विश्व में शस्त्रास्त्रप्रयोग, उपनिवेशवाद, पूंजीवाद और साम्यवाद का जोर मानवजाति को त्रस्त कर रहा है। मनुस्मृति, पाराशर स्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि स्मृतियों में नैतिक-सामाजिक दबाव (दमन) के अनेकों श्लोक मिलते हैं।

(३) तीसरा राज्य का दबाव है। इन दोनों दबावों के सदर्भ में यह किया जाना चाहिये। और इसका अंतिम नंबर रहना चाहिए। क्योंकि राजकीय दबाव में आर्थिक और शारीरिक दण्ड मुख्य होता है, नैतिक समाजिक-दबाव में सामाजिक दण्ड मुख्य होता है। अकेली शारीरिक सजा हमेशा अनिष्ट परिणाम लाती है। जब राज्य के हाथ में सारी शक्ति आजाती है, तब हुक्मशाही, कानूनबाजी, शस्त्रास्त्र और हिंसाशक्ति की प्रतिष्ठा बढ़ती है इसके फलस्वरूप आध्यात्मिक शक्ति और नैतिक-सामाजिक शक्ति राज्य की दण्डशक्ति के अधीन रहती है और धर्म सस्कृति और शुद्धजनता का सगठन तीनों कुचले जाते हैं।

आज के युग में राज्यशक्ति का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। इसलिए अनुबन्धकारों को भारत की राज्यशक्ति को राष्ट्र के आतरिक राज्य सम्बन्धी मामलों में तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजकीय क्षेत्र में कार्य करने देना चाहिए तथा समाजिक आर्थिकक्षेत्र में जनसगठन और नैतिक सांस्कृतिक क्षेत्र में जनसेवकसगठन को कार्य करने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए। अन्यथा सभी क्षेत्रों में राज्यशक्ति के लग जाने पर अन्त राष्ट्रीय क्षेत्र में वह राज्यसगठन कार्यक्षेत्र नहीं हो सकेगा। ऐसा किये बिना भारत राष्ट्र द्वारा आन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर नैतिक-सामाजिक-दबाव लाना शक्य नहीं होगा। विश्वराज्यक्षेत्र पर नैतिक सामाजिक-दबाव आने पर ही उसमें सच्ची लोकशाही स्थापित करने का महाप्रयास सरल होगा। इन तीन दबावों का अनुक्रम बराबर रहे तो अहिंसक दबाव

दबावरूप नहीं लगेगा और अनुबन्धकारों के अहिंसक दबाव से इन प्रश्नों से विश्वानुबन्ध हो सकेगा, नये मूल्यों का स्वेच्छा से स्वीकार करने की भूमिका विश्व में खड़ी हो सकेगी। साथ ही इन तीनों दबावों के अनुक्रम से सभी क्षेत्रों के प्रश्नों और विश्व के सभी शुभप्रश्नों को नैतिक-धार्मिकदृष्टि से हल किया जा सकेगा। व्यक्ति और समाज से लेकर समष्टि तक के अनुबन्ध में यह, दमनक्रमकम (तीन दबावों का क्रम) सहायक हो सकेगा।

उपर्युक्त तीनों दबावों में से प्रथम के दो दबावों में तपस्या, त्याग, सर्वधर्मसमन्वयात्मक दृष्टि एवं प्रभुप्रार्थना, शुभसंकल्प शुभभावनाएं काफी उपयोगी और वातावरण को उन्नत बनाने में सहायक होती हैं। सारी अचेतनमय सृष्टि पर इनका अव्यक्त असर पड़ता है।

साथ ही अनुबन्ध सुधारनेवाले को सर्वधर्मसमन्वय की व्यापक दृष्टि अपनानी चाहिए। ऐसा करने के लिए उसे अपने संघ या सम्प्रदाय तथा सम्प्रदायगत वेष या मौलिक नियमों को छोड़ने की जरूरत नहीं है। जैनसूत्रों में तो सिद्धान्तरक्षा के लिए कर्मों वेष छोड़ने की जरूरत नहीं बताई है। सिर्फ दृष्टि, सर्वांगी, विशाल और सर्वधर्मोपासना की होनी चाहिए, जिससे धार्मिक क्षेत्र में और धर्म द्वारा सारे विश्व में अनुबन्ध सुधारने और जोड़ने का कार्य अनायास ही हो सके।

ये हैं बिगड़े हुए और टूटे अनुबन्धों को सुधारने या बांधने के साधन।

आज के युग में अनिवार्य अनुबन्धचतुष्टय

अनुबन्धसाधना करनेवाले साधक को सारे विश्व तक के साथ एक शरीर से अनुबन्ध होने वाली बात कुछ अटपटी लगनी स्वाभाविक है पर उसे घबराना नहीं चाहिए और दीर्घदृष्टि से सोचना चाहिए कि अब वह स्वयं विश्वरूप बन गया है विश्वात्मा में स्वात्मा को

उसने समर्पित कर दिया है, तब उसके लिए यह बात कोई कठिन नहीं है। हां, यह जरूर है कि उसके दिमाग में विश्वविशाल अनुबन्ध का पूरा नकशा खींचा हुआ होना चाहिये। यद्यपि आत्मा के साथ शरीर जुड़ा हुआ होने से शरीर की कुछ मर्यादाएँ हैं। और उन मर्यादाओं को देखते हुए अकेले शरीर से — व्यक्ति के निजी शरीरमात्र से — विश्वानुबन्ध नहीं होसकता। इसीलिए उसे अपने सामने यह चित्र रखना चाहिए कि मेरा पैर प्रयोगभूमि में रहेगा, दिल देश (भारत) में रहेगा और दिमाग सारे विश्व में। यानी शरीर प्रयोग-क्षेत्र में, हृदय अपने राष्ट्र में और दृष्टि सारे विश्व में रहेगी। इसी दृष्टि के द्वारा उसे ग्राम से लेकर सारे विश्व तक का अनुबन्ध करना है।

भारत के पास तो भगवान् ऋषभदेव के युग से लेकर महावीर युग तक चार संगठनों के अनुबन्ध का मसाला मिलता है। भारतीय वैदिक परम्परा में भी ऋषिसंगठन, राज्यसंगठन, जनसेवकसंगठन और जनसंगठनरूप अनुबन्धचतुष्टय की परम्परा मिलती है। जैनसंघों में वीतराग (जिन) शासन, जनशासन और राज्यशासन के परस्पर अनुबन्ध के बारे में पिछले प्रकरणों में बता चुके हैं। इसलिए आज अगर किसी भी विश्वप्रेमी साधुसाध्वी को इस प्रकार का अनुबन्ध चतुष्टय विश्वव्यापी दिशा में करना हो तो उसके लिए अधिक अनुकूलता है। आज विज्ञान की अत्यधिक प्रगति के कारण भौतिकवाद पर आध्यात्मिकवाद का संयमी अंकुश रखने की आवश्यकता है, उसके लिए भी निम्नलिखित चार संगठनों का अनुबन्ध शीघ्र से शीघ्र करना चाहिए — (१) शुद्धनैतिक जनसंगठन, (इसमें ग्रामसंगठन, शहरी मजदूर संगठन और मातृसमाज तीनों का समावेश हो जाता है) (२) जनसेवक संगठन (रचनात्मककार्य सर्वांगीदृष्टि से करनेवाली संस्थाएँ) (३) कांग्रेस (देश की तपत्याग से बापू द्वारा घडी हुई, विशालजनसंख्यक, सुदृढ

जनसंगठनवादी राष्ट्रीय महासभा) और (४) इन तीनों का अनुबन्ध सतत सुरक्षित रखनेवाले, अहिंसा—सत्यादिरूप-धर्मदृष्टि से समाजरचना में लगनेवाले, विश्वकुटुम्बी क्रान्तप्रिय साधुसाध्वी। इन चारों का अनुबन्ध करने का एक कारण यह है कि आज विश्व में राजनीति और सत्ता बढ़ती जारही है, इस पर अंकुश न रखा गया तो धीरे—धीरे विश्व की मानवजाति के सभी जीवनक्षेत्रों पर इसका आधिपत्य होजायगा, जो मानवजाति के लिए खतरनाक होगा। राज्य ही अकेला व्यवस्थापक हो जाय तो सबसे जनसत्ता और धर्मसत्ता कुचल दी जायगी। फलतः विश्वजनता में सत्य प्रेम न्याय आदि रूप धर्म और अहिंसक संस्कृति लुप्त हो जायगी। जो पूर्ण अहिंसा की प्रतिज्ञा लिए हुए महाव्रती साधकों के लिए कितनी दुःख की बात होगी! रूस और अमेरिका, यूरोप आदि राष्ट्रों में जब धर्मसंस्थाओं और जनसंस्थाओं पर राज्यसत्ता का आधिपत्य होगया, तब वहां के साधकों और जनता की क्या दशा हुई थी! यदि हम रूस की राज्यक्रान्ति और यूरोप के मध्य का इतिहास पढ़ें तो हमें मालूम हो जाय, हमारे रोंगटे खड़े हो जांय। रूस में तो धर्मसंस्थाओं को बिल्कुल कुचल दिया गया और यूरोपीय देशों में राज्यों की ओर से उन-उन धर्मसम्प्रदायों के अनुयायियों पर भयंकर अत्याचार ढहाया गया, खून की नदियां बहाई गईं। रूस में तो जनता का वाणीस्वातंत्र्य और विचारस्वातंत्र्य एक छीन लिया गया है।

इसलिए सत्यसाधकों और अहिंसा के उपासकों के लिए राज्य के द्वारा होने वाली इस भयंकर हिंसा को रोकने के लिए उपर्युक्त चारों संगठनों का अनुबंध करना अनिवार्य होजाता है।

उक्त चारों के अनुबन्ध से विश्व की राज्यशक्ति कैसे अंकुश में आ सकेगी, इसके लिए तीन कार्य करने आवश्यक होंगे —

(१) विश्वभर में तमाम राष्ट्रों में लोकशाही की स्थापना करनी

होगी। आज जहाँ—जहाँ उपनिवेशवाद राजशाही या तानाशाही है, उसे विश्वलोकमत के बल से दूर करना होगा।

(४) जहाँ-जहाँ लोकशाही स्थापित हैं, वहाँ-वहाँ उनको लोकलक्षिणी (सामान्य से सामान्य जनता के प्रभावशाली) बनानी होगी। आज कहीं तो लोकशाही पूंजीवादलक्षिणी है, कहीं तानाशाहीलक्षिणी है, कहीं दोनों का मिश्रण है। शुद्ध लोकलक्षिणी लोकशाही भारत में ग्रामों में बसनेवाली ८२ प्रतिशत जनता के नैतिक संगठनों से बन सकेगी।

(३) उसके बाद भारत द्वारा विश्वभर के लोगों को (जनता को) धर्मलक्षी बनाना है अथवा विश्वजनता में सत्य, प्रेम, न्याय की त्रिवेणी को प्रतिष्ठित करना है।

इन तीनों कार्यों को पूरा करने के लिए उपर्युक्त चार संगठनों में से सर्वप्रथम क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वी को तो अनुबन्धकार के रूप में तैयार होना ही पड़ेगा। तदनन्तर उन्हें राज्यशक्ति पर नैतिक अंकुश रखने के लिए और राज्यशक्ति को शुद्ध व धर्मलक्षी बनाए रखने के लिए सर्वप्रथम जनसंगठन तैयार करना पड़ेगा। आज ऐसे तैयार हुए या बने हुए जनसंगठन बहुत कम हैं। जनसंगठन करने के लिए सर्वप्रथम अनुबन्धकार को भारत के हृदय और भारतीय संस्कृति के प्रतीक तथा पं॰ नेहरू के शब्दों में लोकशाही के मूल गाँवों को नैतिक दृष्टि से संगठित करना पड़ेगा। गाँव के किसानों, पशुपालकों और ग्रामोद्योगी—मजदूरों के उनके व्यवसायहित पृथक् होने की दृष्टि से भले ही अलग-अलग मंडल बनें पर उनका परस्परावलम्बन तो रखना पड़ेगा ही। साथ ही ग्रामों के नीतिनिष्ठ व्यापारी अथवा बुद्धिजीवी व्यक्तियों को यथावश्यकरूप में इन मंडलों के विभिन्न कार्यों को चलाने के लिए समाविष्ट करना पड़ेगा। इस प्रकार तीनों मंडलों को हम ग्रामसंगठन कहेंगे। यह जनसंगठन का एक घटक होगा। दूसरा घटक होगा—

शहर के श्रमजीवी एवं मजदूरों का नैतिक सङ्गठन तीसरा घटक होगा-सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से नारीजाति का सङ्गठन। इन तीनों घटकों का मिलकर जनसङ्गठन होगा। यह जनसङ्गठन या लोकसङ्गठन सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र रहेगा, सिर्फ राजनैतिक क्षेत्र में कांग्रेस के साथ इसका राजनीतिक मातृवत्सम्बन्ध रहेगा। इसके अनन्तर लोक (जन) सेवकों का सङ्गठन नैतिक-धार्मिकदृष्टि से करना होगा।

भूतकाल में समाजनिर्माता और राज्यप्रेरक ब्राह्मणों का जो स्थान था, वह आज के सर्वांगीदृष्टि वाले रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं को देना होगा। वही लोकसेवक या जनसेवक कहलाएँगे, उनकी संस्था का नाम महात्मा गांधीजी ने 'लोकसेवकसंघ' दिया था। इससे पहले गांधी सेवक संघ' भी बापू ने स्थापित किया था, किन्तु वह चिरस्थायी न रहा। यह ध्यान रहे कि जनसेवकों के सङ्गठन का नाम कुछ भी दिया जाय किन्तु उसका राज्यसंस्था के साथ बराबर अनुबन्ध रहना चाहिए। अन्यथा, राज्यसंस्था से पृथकता का सेवन संस्थागत या व्यक्तिगत किसी भी रूप से हुआ तो न तो राज्यसंस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हिंसा, साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद वगैरह रोका जा सकेगा और न ही किसी प्रकार की नैतिक-धार्मिक प्रेरणा उसके गले उतारी जा सकेगी। इसके लिये जनसङ्गठनों का संचालन जनसेवकसंगठन के हाथ में रहे और वह राजनैतिक क्षेत्र में जनसङ्गठनों का कांग्रेस (राष्ट्रीय महासंगठन) के साथ अनुबन्ध न टूटने दे, श्रद्धा न डिगने दे। बल्कि राजनैतिक क्षेत्र में उक्त संस्था पर धक्का आए तो भलीभांति सहायक बने, पूरक का कार्य करे। अगर राजकीयक्षेत्र में उक्त राज्य-संस्था किसी भी प्रकार का जनता के लिए अहितकर व राष्ट्रघातक कानून बनाने लगे, किसी भी प्रकार से भारतीयसंस्कृतिलक्षी दृष्टि या लोक लक्षी दृष्टि भूल कर पूंजीवादी, कौमवादी, सत्तावादी या हिंसावादी पक्षों के साथ सांठगांठ करने लगे या तथाकथित सत्तालोलुपी अथवा

अवसरवादी कांग्रेसी लोगों के प्रवाह में पड़ कर जनसगठनों के प्रति अन्याय करने लगे, सिद्धांतभग करने लगे, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करके जनसगठनों पर राजकीय आधिपत्य लादने का प्रयत्न करे या गुटबन्दी द्वारा इन सगठनों को कुचलना चाहे तो उस समय जनसेवकसगठन कानूनरक्षा करते हुए जनसगठनों के माध्यम से अहिंसक शुद्धिप्रयोगों द्वारा राज्यसस्था पर नैतिक-सामाजिक-दबाव लाकर उसकी शुद्धि और सिद्धा त निष्ठा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करे। इस प्रकार की प्रक्रिया से जनसगठनों और लोकसेवकों का सुन्दर निर्माण सत्य अहिंसा न्याय आदि की दिशा में होगा ही, साथ साथ राज्यसस्था का भी निर्माण होता जायगा और बाद में अहिंसा सत्यादि की दृष्टि से निर्माणप्राप्त शुद्ध और सिद्धांत निष्ठ बनी हुई इस राष्ट्रीय महासस्था (कांग्रेस) के द्वारा विश्व में लोकलक्षी लोकशाही या प्रसार करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। ऐसा व सिद्धान्तनिष्ठ बनी हुई राष्ट्रीयमहासस्था स्वय सत्य पचशीलपालन में अभ्यस्त होने से विश्व की जनता में इनका चेप लगाये बिना न रहेगी।

इस प्रकार की आनुबन्धिक प्रक्रिया से विश्व में हो सकेंगे। विश्व की मानवजाति के सध. जायगी और उससे मानवजाति में तो स्वाभाविक ही मानवजाति का समष्टि अनुबन्ध कराना सरल होजायगा। स्वय के साथ अनुबन्ध हो ही जायगा।

उपर्युक्त तीनों कार्य अकेले क्रान्तिप्रिय सगठन या जनसेवकसगठन अथवा अकेली नहीं कर सकती। इसका कारण यह है कि दृष्टि चाहे जितनी व्यापक हो, उनके

किन्तु जब तक वे जनसंगठन, जनसेवकसंगठन और धर्मसंस्था के साथ अनुबन्ध नहीं जोड़ देंगे, तब तक उनकी अकेले की आवाज का विश्वराष्ट्रों के गगन पर कोई असर नहीं हो सकता। अन्यथा इतने साधुसाध्वियों के होते हुए भी वे राष्ट्रों में व्याप्त हिंसाअन्यायादि को रोक नहीं देते? अकेली कांग्रेस भी (जनसंगठन, जनसेवकसंगठन या साधुसाध्वी के अनुबन्ध बिना) यह मनोरथ कार्य नहीं कर सकती। कोई कह सकता है कि पण्डित जवाहरलाल नेहरू आज अकेले रूस और अमेरिका के राष्ट्रगुटों में अनुबन्ध का काम कर ही रहे हैं न! परन्तु हम इससे सहमत नहीं हैं। अकेले पण्डितजी यह नहीं कर रहे हैं; किन्तु पण्डितजी के पीछे भारतराष्ट्र है, भारतराष्ट्र की प्रखर राजनीतिक संस्था है। यद्यपि इस संस्था को आज पूर्णतया व्यवस्थित और अनुबन्धित नहीं कहा जासकता। फिर भी इस राष्ट्रीय महासभा के पीछे महात्मा गांधीजी जैसे अनुबंधकार द्वारा रचनात्मक कार्यकर्ताओं तथा जनसंगठनों के साथ प्रकृत अनुबंध की पूंजी कुछ मात्रा में है। अकेले रचनात्मक कार्यकर्ताओं (जनसेवकों) की संस्था भी ये मनोरथ कार्य नहीं कर सकते। अगर कर सकती तो संत विनोबाजी के निमित्त से स्थापित व कांग्रेसमहासंस्था से निरनुबन्धित 'सर्वसेवासंघ' नाम की रचनात्मक कार्यकरों की संस्था या अन्य । ऐं सक कर नह देती? अकेले जनसंगठन भी तब तक यह कार्य नहीं कर पा सकते, जब तक उनमें नीतिधर्म के दृढ़ संस्कार जनसेवकसंगठन और क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों द्वारा परिपूर्णरूप से भरे न हों, राज्यसंस्था के साथ अनुबन्ध होकर उन पर उनकी संगठित आवाज का वजन न पड़ता। आज तो कई जन संगठनों पर राज्यसंस्था का वर्चस्व है।

यहां के श्रमण-ब्राह्मणों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' 'आत्मवत् सर्वभूतेषु', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'मित्ती मे सव्वभूएसु' आदि सूत्रों के संस्कार प्रजा में (राज्यसंस्था और जनसंस्था में) कूटकूट कर

भरे हैं। भारत इस विषय में चारों अनुबन्धों का प्रयोग पुरातनकाल से करता आ रहा है। उसके लिये पूरक, प्रेरक, राज्य (मूल) और मार्गदर्शक की बात नई नहीं है। रामायणकाल में अनुबन्ध चतुष्टय के सफल प्रयोग द्वारा अयोध्या से अटवी तक और अन्त में लंका से लेकर उस समय के भारतराष्ट्र के किनारे तक मानवसमुन्धरा ,राम-राज्य की बोलबाला बना दी थी। भारत ने अपनी असली प्रकृति को सुरक्षित रखते हुए शक, हूण, आर्य, अनार्य, पारसी मुगल, फ्रेंच और अंग्रेज वगैरह विभिन्न जाति, संस्कृति, देश और धर्म के लोगों को पचाया है। और सभी प्रकार के शासकों के काल यहाँ गाँधीयुग तक पूरक-प्रेरक का काम हुआ है। अलबत्ता, मध्ययुग में मुगल और ब्रिटिशशासनकाल में यह क्रम पूर्णतया सुरक्षित नहीं रहा है। किन्तु फिर से विश्वानुबन्धकार बापू ने भारत के पूरक, प्रेरक, मूल और मार्गदर्शक के इस अनुबन्धचतुष्टय के संस्कारों से अभ्यस्त होने के कारण भारत की राष्ट्रीय महा-संस्था द्वारा विश्व के साथ भारत का अनुबन्ध जोड़ दिया था। यद्यपि इसमें अभी काफी कसर है। बीच-बीच में ज्वारभाटे आया करते हैं। इसीलिए क्रान्तिप्रिय अनुबन्धकारों को आज के युग में तीव्र पुरुषार्थ इसके लिए करना है।

छोटे से कुटुम्ब में भी पूरक, प्रेरक और मार्गदर्शक की जरूरत पड़ा करती है। स्त्री और पुरुष ये दोनों परस्पर पूरक हैं। परन्तु अकेले नरनारी से संसार नहीं चलता। इसीलिये भारत में इसके लिए 'मातृदेवो भव' 'पितृदेवो भव' आदि सूत्र थे। मतलब यह कि कुटुम्ब में पतिपत्नी पर माता-पिता या संरक्षकजनरूप प्रेरकतत्त्व चाहिये पर कदाचित् मातपिता आदि प्रेरक भी शायद संकीर्ण कुटुम्ब-मोहवश, प्रेरणा देने में चूक जांय। जैसे दशरथ, चूक गये थे, कैकेयी चूक गई थी, और उस चूक (भूल) को सुधारने के बाद दूसरी चूक राम के वनगमन के विरहदुःख को ठुकरा कर वापिस लौटा लाने के विचार जैसी न कर

थे, इसलिए सब पर मार्गदर्शक के रूप में आचार्यतत्त्व रखा। 'आचार्य देवो भव' यह सूत्र बताता है कि कुटुम्ब में भी पूरक-प्रेरक के ऊपर आचार्य (मार्गदर्शक) की आवश्यकता है। ये पूरक, प्रेरक और मार्गदर्शक तत्त्व प्रायः सभी धर्मों में मौजूद हैं। परन्तु दूसरे धर्मों (भारत से बाहर के धर्मों) में तो पूरक और प्रेरकबलों का उपयोग प्रायः जन्म, विवाहसंस्कार, धर्मदीक्षाविधि आदि करने में ही होता देखा जाता है। विदेश में पैदा हुए धर्मों में राज्य के साथ प्रायः अनुबन्ध नहीं है, और न था। परन्तु भारतीय धर्मों के धर्मगुरुओं का राज्यसंस्था के साथ अनुबन्ध रहा।

कांग्रेस (राष्ट्रीय महासभा) इस देश में पैदा हुई भारतीयसंस्कृति का दूध पीकर पली हुई तथा बापू द्वारा प्रेरक के अनुबन्धसंस्कारों से सिञ्चित संस्था रही है। यह संस्था विश्वव्यापी बन सके, इस प्रकार का एक शुद्ध राजनीतिक संगठन है। आज की दुनिया में राज्यक्षेत्र के बिना दूसरे किसी भी क्षेत्र से व्यावहारिक और आन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र-व्यापी कार्य हो सके, ऐसी भूमिका नहीं है। इसलिए विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में भारत को काम करना हो तो भारतीय कांग्रेस को शुद्ध संगीन और सिद्धान्तनिष्ठ बनाए बिना कोई चारा नहीं है। विश्वशान्ति का अद्वितीय कार्य तभी भारत राष्ट्र द्वारा कांग्रेस कर सकेगी। क्योंकि भारत ने हमेशा से राज्यसंगठन की अपेक्षा जनसंगठन और जनसंगठन की अपेक्षा द्विजसंगठन एवं ऋषिमुनिसंगठन को महत्त्व दिया है; जब कि दूसरे देशों में तो राज्यसंस्था ही सर्वोपरि बन गई है परन्तु यहाँ के संस्कारों में ऐसी बात नहीं है।

कोई यह कहे कि कांग्रेस के साथ दो बलों (जनसंगठन और जनप्रेरक-संगठन) का अनुबन्ध न करके, सीधे ही कांग्रेस को मार्गदर्शक, क्रांतिप्रिय साधुसाध्वियों की प्रेरणा मिले तो क्या यह

विश्व में अहिंसा का प्रयोग या पहले बताए हुए कार्य नहीं कर सकती है ? इसका उत्तर हम पाठ्‌क नकार में देते हैं । इसका एक कारण तो यह है कि कांग्रेस को हम शुद्ध और सिद्धान्तनिष्ठ राजनैतिक संस्था रखें और रखनी ही होगी तभी वह विश्वभर में लोकशाही को स्थापित करके उसे लोकलक्षी बना सकेगी, और विश्वजनता में सत्य प्रेमन्याय रूप धर्म की प्रतिष्ठा कर सकेगी। जैसे वह स्वराज्य से पहले भारत में ब्रिटिशशासन के खिलाफ लड़ी, वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चार महासत्ताओं के खिलाफ समस्त राष्ट्रों की ओरसे शुद्ध लोकशाही के लिए लड़ सकेगी। यद्यपि भारतीयराजसत्ता को यू० नो० के मूलसिद्धान्त स्वीकार्य होने से अन्तर्राष्ट्रीय कानून अक्षरशः पालन करने होंगे, फिरभी अहिंसा की दिशा में शीतयुद्धनिवारण के प्रयत्न अन्तर्राष्ट्रीय तख्ते पर वह एक सक्रिय तटस्थबल के रूप में प्रत्यक्ष परोक्षरूप से करेगी। और ऐसा कार्य वह तभी कर सकेगी; जब कि सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों से अपना हाथ खींच कर अपनी पूरक-प्रेरक संस्थाओं के हाथ में सौंप देगी। यानी वह उक्त तीन क्षेत्रों से निश्चिंत हो कर एकमात्र राजनीतिक क्षेत्र में शक्ति लगायेगी। और उपयुक्त तीनों क्षेत्रों के कार्य संभालने वाले कांग्रेस के पूरक तथा प्रेरकबल का कार्य करने वाले जनसंगठन और जनसेवकसंगठन होंगे। इन दोनों संगठनों की प्रेरणा के बिना अकेली कांग्रेस अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निश्चिंततापूर्वक कार्य नहीं कर सकेगी। इसलिए उपर्युक्त दो एक बल तो कांग्रेस का पूरक बनेगा क्योंकि कांग्रेस संस्था होने के अतिरिक्त सत्ताधीन पक्ष भी है। भार में पाश्चात्य लोकशाही का आज अनुकरण किया जाने से पक्ष हैं। लोकशाही की एक मर्यादा होने से ऐसे जो सत्तार्थी हों और सिर्फ विरोध के खातिर ही जिनकी नीति रही हो, ऐसे विरोधीपक्षों को स्थान दे कर भारतीय जनता के दिलों में उनके

नहीं हो सकता। भारतीय संस्कृति की दृष्टिसे तो इन्हें स्वप्न में भी स्थान नहीं हो सकता। खैर, तो कांग्रेस एक सत्ताधीन पक्ष भी है, इसलिये उसे अपने सिद्धान्त प्रचारण के लिए या सत्ता को बरकरार रखने की दृष्टि से अन्य विरोधी पक्षों से मोर्चा लेना पड़ता है। ऐसे मौके में कई बार कांग्रेस सिद्धान्तनिष्ठा के प्रति शिथिल बनी है। कई बार उसे सिद्धान्तविरुद्ध समझौते और समाधान भी करने पड़े हैं। पिछले सालों में अधिक मत प्राप्त करने के लोभ से उसने कई बार सिद्धान्तविहीनपक्षों के साथ सांठगांठ भी की है। कांग्रेस की यह सैद्धान्तिक निर्बलता दूर हो और मतों की ओर से उसे निश्चिन्त बना सकें ऐसे ग्रामसङ्गठनरूपी जनसङ्गठन उसे आश्वासन देकर पूरक बनेंगे और कांग्रेस के क्रान्तिकारी कार्यक्रमों में सहयोग और हिम्मत देंगे तथा दी भी है। राष्ट्र के मतों की ओर से निश्चिन्त बनी हुई कांग्रेस ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निश्चिन्ततापूर्वक काम कर सकेगी।

दूसरा जनसेवकसंगठन कांग्रेस का प्रेरकबल बनेगा। कांग्रेस की जहां नैतिकशक्ति खर्च होती दिखेगी, जहां वह सिद्धान्त से गिरती दीखेगी, जहां उसे सहानुभूति की जरूरत होगी वहां प्रेरकबल मरजीवा बनकर उसके प्रति निष्ठा बताते हुए प्रेमपूर्वक प्रेरणा देगा, स्वयं के तप-त्यागबल द्वारा सिद्धान्तनिष्ठ बनाने का प्रयत्न करेगा, उसे आफत में वात्सल्यभाव से सक्रिय सहयोग देगा व दिलायेगा।

और इन तीनों बलों (पूरक बल = जनशक्ति, प्रेरकबल = नैतिक शक्ति और राज्यसंस्था = लोकशाहीराज्य की दण्डशक्ति) के जोड़नेवाले और यथानुक्रम समाज, राष्ट्र और विश्व की वर्तमान समस्याओं को धर्मदृष्टि से हल करने वाले क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वी (आध्यात्मिक शक्ति) नामक चौथे बल की भी अनिवार्य आवश्यकता रहेगी। अकेली कांग्रेस क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों के मार्गदर्शनमात्र से विश्व में अहिंसा-सत्य-न्यायादि का प्रयोग नहीं कर सकेगी। इसका द्वितीय

है, कि अहिंसादि का प्रयोग या पूर्वोक्त कार्य विश्व में करने की शक्ति, कांग्रेस में तभी आएगी, जब वह स्वयं, अहिंसक दृष्टि से निर्मित होगी, तभी आएगी। तथा अहिंसा के विविध प्रयोग करेगी या प्रयोग करने में सहयोग देगी। परन्तु भारत में अहिंसा के विविध प्रयोग करने में उसे अभी तो पूरकप्रेरकबल के मदद की अनिवार्य जरूरत रहेगी। ऐसा न होगा तो वह स्वयं एकांगुणी होकर हिंसा का आश्रय बात बात में, लेने लगेगी। इसलिए कांग्रेस अकेली अहिंसक समाजरचना की दिशा, में स्वयं क्रान्ति नहीं कर सकती। क्योंकि राजनैतिक संस्था होने के कारण उसकी एक मर्यादा है। अहिंसक समाजरचना का कार्य अमोघ शक्ति की अपेक्षा रखता है। ऐसी सात्त्विक शक्ति कांग्रेस को साधु-संस्था, रचनात्मक कार्यकर (जनसेवक) संस्था, और ग्रामसमाजरूप जनसंगठन द्वारा ही मिल सकती है। इस पवित्र शक्ति के द्वारा वह, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में 'अणुशस्त्रों पर प्रतिबन्ध', निःशस्त्रीकरणप्रक्रिया, ब्रह्मचर्यलक्षी संयम, ट्रस्टीशिपवाद, सहकारिता, मध्यस्थप्रथा और शुद्धि-प्रयोग, शान्तिसेना वगैरह अहिंसा के प्रयोग सभी से करके करा सकेगी।

तीसरा कारण यह है कि विश्व के मानवसमाज में पुराने गलत मूल्यों को बदल कर उनके स्थान में नये शुद्ध मूल्यों की स्थापना करने का जो कार्य आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में करना है, वह अकेली राज्यसंस्था नहीं कर सकेगी। अगर वह आवेशवश अकेली इन कार्यों में हाथ डालेगी तो सत्य और अहिंसा को खतरे में डालेगी, भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्वों को आंच लगायेगी। इसलिये पूर्वोक्त दोनों पूरक-प्रेरकबलों को कांग्रेस के साथ अनुबन्धित करने पर ही उपर्युक्त कार्य सुचारु रूप से हो सकेगा। ऐसा होने पर ही आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग द्वारा धर्म (सत्य-प्रेम-न्याय) का अनुबन्ध, हो सकेगा।

पाठक यह जानते होंगे, कि कांग्रेस के विधान में सत्य-अहिंसा शब्द नहीं हैं, सिर्फ शान्तिमय वैधानिक तरीकों से वह आगे बढ़ी है। अब

लोकशक्ती रेलगाड़ी को विश्वराष्ट्रों तक ले जाने के लिये पूरकबलरूपी डिब्बों और प्रेरकबलरूपी ड्राइवर तथा मार्गदर्शकबल (क्रान्तिप्रियसाधु साध्वी) रूपी गार्ड की जरूरत है, ताकि वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सत्य अहिंसा-न्याय को तथा । धर्मनीति को फैला सके।

सद्भाग्य से भारत के राष्ट्रपिता बापूजी ने कांग्रेस को ग्रामकांग्रेस में परिणत करने की बात कही थी। दिल्लीडायरी में बापू का यह वाक्य—"देश के ग्रामों में रहने वाली ८० प्रतिशत किसानजनता ही कांग्रेस बननी चाहिये" यही सूचित करता है कि सामाजिक—आर्थिक क्षेत्र में ग्रामों के शुद्ध नैतिक संगठन कांग्रेस का ग्रामकांग्रेस के रूप में कार्य सम्हाले व स्वतन्त्र रहें तो बाकी की राजकीय कांग्रेस नैतिक ग्रामसंगठन तथा बापूप्रेरित शहरी मजदूरसंगठन (जनसंगठनों) द्वारा विश्व में लोकशाही को लोकलक्षी बनाने में तथा जनसेवकसंगठन द्वारा विश्व-व्यापी धर्म (सत्य अहिंसा-न्यायादि) व्यापी बनाने में सफल हो सकती है इसमें कोई शंका नहीं।

बापू ने लगभग सारी भारतीय जनता को कांग्रेस का पूरकबल बनाया था तथा उनके रचनात्मककार्य करने वाले साथीगण कांग्रेस के प्रेरक बन गये थे और वे स्वयं मार्गदर्शक थे ही।

महात्मा गांधीजी के अवसान के बाद कांग्रेस में पूरकबल की क्षति पड़ी ही थी, प्रेरकबल की भी बड़ी कमी पड़ी। क्योंकि प्रेरकबल का काम कर सकने योग्य संगठितशक्ति (सर्वसेवासंघ) पूरकबल को भी उस (कांग्रेस) से पृथक् करने और अपने मनचाहे मूलपक्ष (राष्ट्रीय महासंस्था) की शक्ति को तोड़ने वाले विघातक बलों को महत्त्व देने लग गई और उनसे निष्पक्षपातीपन का बिरुद स्वीकार कर परोक्षरूप से उन्हें प्रतिष्ठा देकर राष्ट्रघातक कारनामों में गैरफायदा उठाने दे रही है। महाभारतकाल में जैसे तीनों बल , थे, और

गांधीयुग से पहिले वे पूर्णरूप से अनुबन्धित नहीं हो पाए थे। वैसे ही गांधीजी के जाने के बाद आज रशा हो रही है। इसलिए प्राण, प्रतिष्ठा और परिग्रह के त्यागी, भारतीय संस्कृति के रक्षक अनुबन्धकार क्रान्तिप्रिय साधुओं को तो जैसे गांधीजी ने प्रथम प्रथम ज़िन्ना के और बाद में कांग्रेस के पक्षपातीपन का झूठा आक्षेप सहन करके भी जगत् को अपनी निष्पक्षपातता की सार्टिरी करा चुके थे और उनके झूठे आक्षेप को असत्य सिद्ध कर बताया था, वैसे ही दूसरे विरोधी पक्षों या बलों की, तथा निरनुबन्धित पृथकतावादी कार्यकर्ताओं की, एवं विशेष रूप से स्वयं कांग्रेसजनों की ओर से होनेवाले पक्षपातता के मिथ्या आक्षेप को सह कर भी कांग्रेस के साथ कम पड़ने वाले दो बलों-पूरक-प्रेरकबलों-को अनुबन्धित करने का प्रयत्न करके उनके उक्त मिथ्या आक्षेप को असत्य सिद्ध कर बताना चाहिए। शुरू शुरू में स्वयं कांग्रेस भी शायद क्रान्तिप्रिय अनुबन्धकारों के इस प्रयत्न से चौंक उठे उसे कुछ अस-ह्यता लगे या कुछ तथाकथित एकहत्थी सत्तालक्षी कांग्रेसी लोगों को यह अत्यन्त बुरा लगे, और वे विरोध भी करते रहे या अनधिकार-चेष्टा का आरोप भी रखे, किन्तु इन तीनों बलों का अनुबन्ध कांग्रेस चाहे या न चाहे फिर भी इनके बलवान् बन जाने के बाद कांग्रेस को अच्छे लगेंगे ही। शुरुआत में स्थानीयस्तर पर से शायद विरोध रहे, परन्तु उपस्तर के कांग्रेसजनों का समर्थन रहेगा। फिर वह विरोध मध्यमसतह पर चला जायगा, इतने में तो नीचे का लोकसङ्गठनबल बढ़ चुकेगा। और जहां वह ऊपर के सतह तक पहुँचेगा, वहांतक तो नीचे का लोकबल, और ऊपर का नैतिकबल एवं आध्यात्मिकबल इतना बढ़ चुकेगा कि समग्र-कांग्रेस स्वयं विरोध में रहे तो भी अन्त में इन तीनों सङ्गठनों के साथ कांग्रेस के मीठे सम्बन्ध रहेंगे और उसे अन्त में समर्थन देना पड़ेगा। यों तो कांग्रेस उदार है और परिस्थिति भी उसे उस पथ पर प्रेरित करेगी।

कांग्रेस के भूतपूर्व महामंत्री श्रीमन्नारायण ने अपने मा न छोटा-प्रदेश के प्रवास के समय कहा था–'जो विभाग से राजनैतिकरूप से कांग्रेस के साथ सारा की मूल शुरूआत से जुड़े हुए हैं, वे और रचनात्मक तथा नैतिक–आध्यात्मिकभावना के साथ जुड़े हुए विश्वशान्तिवादके जनसङ्गठन, कांग्रेस के महत्त्वपूर्ण पूरक हैं; इन्हें प्रत्येक कांग्रेसी को दिलोदिमाग से सहायक बनना चाहिये। उनकी सामाजिक,–आर्थिक प्रगति में सहायक बनना चाहिए। इस सम्बन्ध में कांग्रेससमितियों को वहाँ तक टिकट देने जैसे काम में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि उससे कांग्रेससङ्गठन को लाभ नहीं होगा। नये विधानानुसार मंडल–समितियों के नामों में ग्रामसभी रुचि रहे, यह इष्ट है। इसमें भिन्न–भिन्न मण्डलों या संस्थाओं का नोमिनेटेड प्रतिनिधित्व आए उनके प्रति-निधियों के नाम की पसन्दगी वह मंडल या संस्था कांग्रेस–मान्यता के अनुसार करे यह यथार्थ है।'

हमारी ऊपर बताई हुई बात को कांग्रेस के उच्चस्तरीय व्यक्ति के ये उद्गार पुष्ट करते हैं।

इसी तरह पार्लमिन्टरी बोर्ड का ग्रामसङ्गठन के पक्ष में पारित प्रस्ताव भी विचारणीय है। इस प्रकार इन चारों अङ्गों का अनुबन्ध हो जाने के बाद पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार का बनेगाः—

(१) नैतिक ग्रामसङ्गठन अथवा शहरी मजदूरसङ्गठन का कांग्रेस के साथ राजकीयमातृत्वसम्बन्ध रहेगा।

(२) विश्ववात्सल्य प्रायोगिकसंघ संचालित मातृसमाज का भी कांग्रेस के साथ राजकीयमातृत्वसम्बन्ध रहेगा।

(३) कांग्रेस का जनसङ्गठनों के साथ सामाजिक आर्थिक मातृत्व सम्बन्ध रहेगा।

(४) जनसङ्गठनों (उपर्युक्त तीनों) का परस्पर भ्रातृत्व-सम्बन्ध रहेगा।

(५) कांग्रेस का जनसेवकसंगठनों के साथ नैतिक-मातृत्व-सम्बन्ध रहेगा।

(६) जनसंगठनों का जनसेवकसंगठनों के साथ नैतिक मातृत्व सम्बन्ध रहेगा।

(७) कांग्रेस और जनसंगठनों के दो अंगों का मातृसमाज के साथ सांस्कृतिक मातृत्वसम्बन्ध रहेगा।

(८) विश्ववात्सल्य प्रायोगिकसंघ और ग्रामप्रायोगिकसंघ दोनों का परस्पर पूरक सम्बन्ध रहेगा।

(९) उपर्युक्त सभी संगठनों का क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों के साथ आध्यात्मिकमातृत्व-सम्बन्ध रहेगा।

इस प्रकार का अनुबन्धचतुष्टय आज के युग का अनिवार्य कार्यक्रम है। इसे राज्य, समाज और विश्व की शुद्धि का कार्यक्रम भी कहें तो कोई अयुक्ति न होगी। साथ ही उक्त अनुबन्धचतुष्टय से राज्यों और प्रजाओं दोनों का सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टि से सुन्दर निर्माण होगा। बापूजी यह कहा करते थे कि 'पं जवाहरलालजी किसान के मंत्री के रूप में कार्य करेंगे और किसान-शासक क्षेत्र जोतता होगा' बापू का यह वचन तभी सर्वथा सिद्ध हो सकता है, जब प्रत्येक किसान-ग्रामी किसान को केन्द्र में रखते हुए ग्राम का अनुबन्ध सारे विश्व तक पहुँच जाय। अर्थात् प्रत्येक झौंपड़ा और ग्राम शुद्ध होकर जगत् के साथ अनुबन्धित हो। यह कार्य अनुबन्धचतुष्टय के द्वारा ही हो सकता है। साथ ही एक ओर गांव और दूसरी ओर विश्व जब अनुबन्धकार के सामने होगा तो वह सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक इन चारों क्षेत्रों को ग्राम से लेकर ठेठ विश्व तक पहुँचा सकेगा और सांध सकेगा। इन चारों की शुद्धि भी कर सकेगा। कांग्रेस और भारत का अवलम्बन जैसे यू एन ओ (संयुक्तराष्ट्रसंघ) है, वैसे इन दोनों का अवलम्बन भारत के ग्राम भी हैं। इसलिए विश्वसंस्था के साथ भारतीय

धर्मों का अनुबन्ध अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार आज के जगत् के परस्परावलम्बन में इन चारों बलों का अनुबन्ध सबसे महत्वपूर्ण है। यह बात अनुबन्धकार जितनी जल्द समझेंगे उतनी ही जल्दी नये मूल्य प्रतिष्ठापित होंगे और विश्वशान्ति का मार्ग सरल बनेगा।

अब एक सवाल यह रहता है कि क्रांतिप्रिय साधुवर्ग कांग्रेस जैसे एक राजनैतिक पक्ष और उसमें भी आज की दुर्बल बनी हुई और बात-बात में सिद्धान्त से पीछे हट जाने वाली कांग्रेस के साथ अनुबन्ध कैसे जोड़ सकता है? एक आध्यात्मिक व्यक्ति आज की पूंजीवादी-जैसी कांग्रेस के साथ ग्रामसंगठन और जनसेवक संगठन का अनुबन्ध जोड़ने का कैसे सोच सकता है? और यदि वह अनुबन्ध जोड़ता ही है तो दूसरे राजनैतिक पक्षों को महत्व न देकर, उनके साथ अनुबन्ध न जोड़ कर कांग्रेस को ही महत्व क्यों देता है और उसका ही समर्थन करके उसके साथ ही अनुबन्ध क्यों जोड़ता है?

यह सवाल बहुत महत्वपूर्ण है और उपरी दृष्टि से देखने वाले कई अच्छे-अच्छे साधकों को यह बात बड़ी विचित्र और अटपटी लगती है। परन्तु इसका उत्तर तो काफी विस्तार से पिछले प्रकरणों में दिया जा चुका है। सवाल सिर्फ यही रहता है कि 'वसुधैव कुटुम्बक' के धर्मसूत्र को जैसे बापूजी जैसे सर्वांगीदृष्टिवाले पुरुष ने राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) द्वारा राज्यक्षेत्र में अमली बना दिया था, वैसे ही अब इससे आगे बढ़ कर सभी क्षेत्रों में इस धर्मसूत्र को अमली बनाने की घड़ी आ पहुँची है। ऐसे समय में क्या साधुसाध्वी सभी क्षेत्रों में अपने सत्य-अहिंसादिरूप धर्म को न ले जाकर एक सम्प्रदायरूपी तलैया में ही सीमित रखना चाहते हैं अथवा बापू के द्वारा अर्पण सिद्ध किये हुए कार्य से भी पीछे हटना चाहते हैं? आज तो परिस्थिति बापू के समय की अपेक्षा अधिक अनुकूल है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में

अहिंसा का प्रयोग करने की रुचावाले रखने वाले महासाधु कांग्रेस को शुद्ध और सिद्धान्तनिष्ठ न बना कर दूसरे किस पक्ष या संस्था द्वारा यह भगीरथ कार्य करवा सकेंगे ?

विश्व की वर्तमान परिस्थिति भय और आशंकाओं से घिरी हुई है। शस्त्रनिष्ठा और सैनिक गुट बन्दियों से निष्पन्न युद्धविस्फोटक परिस्थिति को दूर करना आज सर्वप्रथम अनिवार्य है। शीतयुद्धों को रोकना, शान्ति बढ़ाना, साम्राज्यवादी गुलामी तथा उपनिवेशवाद को दूर करके विश्व में लोकशाहियों को स्थापित करने में जगत् के राष्ट्रों को सक्रिय सहारा देना और जगत् में सक्रिय तटस्थबल के रूप में कार्य जितने अंशों में होगा, उतने ही अंशों में विश्वसमस्या का अहिंसकदृष्टि से हल होगा। भारत ने आज तक विश्वसमस्या को हल करने में जो अपनी संस्कृति के अनुरूप, अहिंसक ढंग से प्रभावशाली भाग अदा किया है, इसमें तो किसी का भी विवाद नहीं है। यह सारा कार्य भारत राज्य के प्रतिनिधित्व द्वारा हो कर सका है, यह स्पष्ट है। अन्तर्राष्ट्रीयक्षेत्र में कोई भी सामाजिक, आर्थिक, रचनात्मक, या धार्मिक संस्था यह कार्य कर सके, ऐसी आज की परिस्थिति नहीं है। ऐसी दशा में भारत को राज्य द्वारा ही इस दिशा में काम करना है। प्रश्न होता है कि यह राज्य प्रतिनिधित्व किस बल द्वारा आगतिक मंच पर पहुँच सकता है ? यह बल एक मात्र कांग्रेस ही है।

कांग्रेस का अर्थ सिर्फ आज बाहर से दिखने वाली कांग्रेस नहीं, किन्तु स्वराज्यप्राप्ति से पहले के ६२ वर्षों के तप त्याग, सेवा और बलिदान के कार्यक्रमों से और गांधीजी की जीवनदृष्टि से बनी हुई और बढ़ी हुई देश की महान नैतिकशक्ति। यद्यपि कांग्रेस के विधान में सत्य और अहिंसा का स्वीकार नहीं किया गया है, फिर भी इस दिशा में संगठित संस्था के रूप में स्वराज्य के पहले सबसे बड़ा कार्य कांग्रेस ने किया है। स्वराज्य के बाद उसे अनिवार्य परिस्थिति

यह सार्वभूत समानता पढ़ा है, किन्तु इसकी स्थापना में प्रेरकबल सत्ता नहीं रहा है । स्वराज्य के बाद सत्ता हाथ में लेने के कारण राज्यक्षेत्र की मर्यादा में उसने शान्तिमय और वैधानिक तरीका कायम रखा है । स्वराज्य के पहले पराधीन भारत में उसने 'विश्वभर के राष्ट्र पराधीनता से मुक्त हों, ऐसी पक्की संपूर्ण नैतिक सहकार के साथ चालू रखी थी । और स्वराज्यप्राप्ति के बाद भी चालू है । पण्डित नेहरू के प्रतिनिधित्व में पंचशील का झंडा लेकर कांग्रेस ने विश्व में शान्ति फैलाने का वायुमण्डल बनाया है । तानाशाही और उग्र निरंकुशवाद में मानने वाली संकुचित लोकशाही से यह अलिप्त रही है । शान्ति के संकल्प तत्त्वव्यवस्थाओं और भारतीय संस्कृति के अनुरूप नई लोकशाही के रूप में यह दुनिया की आशा बन गई है ।

क्या आज इसके जोड़ की व्यवस्थित सर्वांगी संगीन, बहुजनसंग्राहक और शुद्ध संस्था कोई है ? नहीं ! धर्मसंस्थाएँ भी आज छिन्नभिन्न हो रही हैं । दूसरे पक्षों में से कोई भी इसकी समता कर सके, ऐसे नहीं हैं । क्योंकि दूसरे राजनैतिकपक्षों को बुनियाद, प्रेरकबल और निर्माण इन तीन बातों की कसौटी पर कसें तो मालूम हो जायगा कि कांग्रेस की बराबरी कोई नहीं कर सकता । भारत के साम्यवादी व कौमवादी पक्ष को लोकशाही के विकासमार्ग में स्थान नहीं है । इसी तरह प्रजा-समाजवादी या समाजवादी पक्ष का भी यही हाल है । इन तीनों की बुनियाद सत्ता द्वारा क्रान्ति और प्रेरकबल चुनाव में येनकेन-प्रकारेण 'विजय प्राप्त करना है । इसके लिए कोई तोड़फोड़ उत्तेजना आदि हिंसा-कारी साधनों का आश्रय लेते हैं, कोई जातिवादी या पूंजीवादी लोगों का और कोई-कोई सम्प्रदायवादी लोगों का आश्रय लेते हैं । उक्त विरोधी पक्षों में से साम्यवाद, समाजवाद का जन्म विदेश में हुआ है, पालनपोषण भी वहीं हुआ है । कौमवाद भारतीय संस्कृति के विकास के लिए भयंकर विघ्नकारक है । इसलिए उक्त सभी पक्ष भारतीय

संस्कृति के अनुरूप नहीं हैं। इस पक्षों के पास सुदृढ निर्माण या मुग्-काल की सुन्दर कार्यवाही का प्रभावशाली इतिहास भी नहीं है। कांग्रेस की बुनियाद शुरू से ही उपनिवेशवाद से मुक्ति रही है, लोकशाही का सिद्धान्त इसका उत्कृष्ट प्रेरकबल रहा है और जातिभेदवाद से रहित और अनाक्रमणनीति का इसके पास सांगोपांग इतिहास है।

जब भारत में राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक गुलामी का बोलबाला था, जातिवाद, अस्पृश्यतावाद, और पूंजीवाद जोर पर था, जागीरदारी और जमींदारी अत्याचारों से जनता का सत्व कुचल दिया गया था ऐसे समय में 'मारने नाम मत लो मरना सीख लो' इस धर्मसूत्र को लेकर इन सब अधर्मकृत्यों से जनता को मुक्त कराने के लिये कांग्रेस ही एकमात्र खड़ी थी। धर्मसंस्थाएँ सो गई थी। सामाजिक संस्थाएँ निःसत्व हो गई थी। ऐसे धर्मकृत्य को करने वाली कांग्रेस को धार्मिक पुरुषों का समर्थन नहीं होगा तो किसे होगा? यद्यपि व्यक्ति इसमें भी खराब आगये हैं। पर संस्थागत दृष्टि से जैसे देखा जाय तो अभी भी इसमें सुनिंदा रत्न हैं। संस्थागत दृष्टि से धार्मिकसंस्थाएँ संकुचित और बाड़ाबंदीवाली बन गई हैं। किन्तु व्यक्तिगत दृष्टि से उनमें से कतिपय साधुसाध्वीगण निकलते ही हैं। अतः कांग्रेस का समर्थन करने से अनुबन्धकार को घबराना नहीं है। अपितु देश के सर्वांगीण चलों की प्राप्ति दूर करने के लिए कांग्रेस की शुद्धि और सुदृढ़ता का कार्य करके बताना चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब कांग्रेस जैसी मजबूत संस्था पर सङ्गठित ग्रामजनता का अंकुश रखवाया जाय। राजनीति को पवित्र और सक्षम बनाने का मूल कार्य जनता का है। पर जनता को यह बात समझाने और प्रेरित करने का कार्य लोकसेवकों और संतों का है। ग्रामजनता को सङ्गठित करके कांग्रेस पर उसका अंकुश नहीं रखवाया जाय तो देश के प्रतिक्रियावादी बल या तो उसे तोड़ डालेंगे या जनता के पैर पर पर चढ़ कर उनके पैर

करने (संस्कृति-भंग, नीतिधर्म-भंग करने) को आमादा होजायेंगे। सन्दा के हिंसाबल अपना हाथा बना कर देश में लोककोप, अशान्ति देंगे आदि करवाने का काय करेंगे। इस दुःस्थिति में से देश और दुनिया को बचाना हो तो शुरूआत कर भी कांग्रेस से पृथक्करण का या अनुबन्ध तोड़ने का विचार नहीं करना चाहिए।

बापू पक्षातीत थे इस विषय में तो किसी को भी शंका नहीं है। किन्तु यह बात भी निश्चित है कि कांग्रेस के साथ उन्होंने कभी अनुबन्ध नहीं छोड़ा था। कांग्रेस के सामान्य सभ्य से लेकर प्रमुखपद तक की जिम्मेदारी उन्होंने वहन की थी। इसलिए कांग्रेस के साथ तादात्म्यपूर्वक तटस्थ ही धर्मसंस्था के सभ्यों का काय होना चाहिये। कांग्रेस में रही हुई त्रुटियों या शिथिलताओं को दूर करने का उपाय कांग्रेस का सभ्यपद से विरोध करना नहीं है अपितु उसकी शिथिलताएँ त्रुटियाँ और अशुद्धियाँ दूर हों और वह अधिकाधिक शुद्ध और सक्षम बनकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सत्य-अहिंसादि कार्य कर सके, इसके लिए पूरक-प्रेरकबल को उसके साथ अनुबंध करना है। राज्यसंस्था या राज्यतन्त्र पर शुद्ध जनता के प्रभुत्व के साथ धर्मजागृति चलेगी तो प्रत्येक धर्मगुरु विश्व में धर्म का सक्रिय प्रचार कर सकेंगे।

कांग्रेस के साथ ग्रामसंगठन के राजकीयमातृवत्सम्बन्ध जोड़ने की बात से किसी अनुबन्धकार को भड़कने की जरूरत नहीं है। कई समझदार महानुभाव इस विचारधारा को पूरी तरह से न समझने के कारण या ऊपर-ऊपर से सुनने के कारण यह कह दिया करते हैं कि कांग्रेस के साथ यह तो साधुसाध्वियों का राजकीय-मातृत्वसम्बन्ध जोड़ने की बात कहते हैं। अर्थात् हम साधु कांग्रेस को राजकीयमाता मानते हैं। परन्तु यह भ्रान्ति है। कभी-कभी बड़े माने जाने वाले मनुष्यों के दिमाग में भी अमुक भ्रम घुस

[illegible] के अंदाजा नहीं निकल पाते। ऐसी बात ही यहां है। [illegible] इस विचारधारा को बराबर न्याय नहीं दे पाते। यहां तो कांग्रेस के साथ साधुमार्गियों का राजकीयमातृसम्बन्ध नहीं है; [illegible] को नैतिक ग्रामसंगठन या जनसंगठन का कांग्रेस के साथ [illegible] जोड़ना है। इसका स्पष्ट अभिप्राय है, कांग्रेस को [illegible] एवं भारतीयसंस्कृति के प्रतीक गांवों से भर देना है [illegible] बना देनी है। कांग्रेस के साथ ग्रामसंगठन का [illegible] विधान में न हो तो ग्रामों की निष्ठा कांग्रेस के [illegible], वे इस पर अंकुश नहीं रख सकते और न इसे [illegible] का कार्यक्रम ही अपना सकते हैं। दूसरी ओर राजकीय [illegible] द्वारा ऐसे ग्रामसंगठनों को हाथा बना कर दुरुपयोग करने का खतरा है। और वैसी दशा में कांग्रेस की रक्षा और निर्माण भी वे ग्रामसंगठन नहीं कर सकेंगे।

इस प्रकार नैतिक बुनियाद पर आधारित ग्रामसंगठन, सर्वांगीदृष्टि वाले रचनात्मक कार्यकरों का संगठन, कांग्रेस (सत्य-अहिंसा के सन्दर्भ में असाम्प्रदायिक और अनाक्रामक लोकतंत्रीय राज्यसंगठन) इन तीनों के साथ क्रांतिप्रिय [illegible] साधुमार्गियों को अनुबन्ध जोड़ना अनिवार्य हो जाता है। इन चारों बलों का अनुबन्ध होने से देश और विश्व की विविध [illegible] रचनात्मक [illegible] ऑर्गेनाइज़ेशन, सरकारी तंत्र तथा क[illegible] [illegible] वगैरह यथायोग्य स्थान [illegible] व्यवस्थित हो जायेंगे।

अनुबन्ध के सम्बन्ध में [illegible] हम पूर्व विस्तार से कह चुके [illegible]

शक विचारक महानुभावों का समाधान हो ही जायगा। और अधिक जानने की उत्सुकता वालों को पूज्य मुनिश्री सन्तबालजी महाराज का प्रत्यक्ष सम्पर्क साधना चाहिये और अनुबन्धक विचारधारा के सक्रिय प्रयोगक्षेत्र में उसका प्रत्यक्ष निरीक्षण और अध्ययन करना चाहिये अथवा यह शक्य न हो तो विश्ववात्सल्य (पाक्षिक) एवं मुनिश्री संतबालजी तथा उनके सहयोगी कार्यकर्ताओं द्वारा लिखित साहित्य पढ़ना चाहिए।

आज भारत में एक ओर राज्यप्रधान सरकार द्वारा समाजवादी समाजरचना का प्रयोग चल रहा है, दूसरी ओर कार्यकर-प्रधान सर्वोदय समाजरचना का प्रयोग चल रहा है और तीसरी ओर महात्मागांधीजी की सर्वांगीदृष्टि को सामने रखते हुए विश्ववात्सल्य अनुबन्धप्रधान धर्ममय समाजरचना का प्रयोग चल रहा है। पहले प्रयोग के सामने ७४-७५ वर्ष की चिरपुरानी शुद्ध राजनीतिक संस्था है दूसरे प्रयोग के सामने रचनात्मक कार्यकर्ता हैं और गत ९ वर्षों से विभिन्न प्रकार से विकसित भूदान से लेकर ग्रामदान तक की विचारसरणी है। तीसरे प्रयोग के सामने पिछले करीब १४ वर्षों से धीरे-धीरे विकसित जो संस्थाएँ हैं। तीसरे प्रयोग को ही अहमदाबाद जिले के भालनलकांठा-प्रदेश में हुआ सक्रिय अनुबन्धक प्रयोग कहते हैं। इस प्रयोग की विशेषता यह है कि यह सर्वांगीदृष्टि एवं अनुबन्धविचारवाली संस्थाओं के अनुबन्ध के द्वारा समाजरचना में मानता है। साथ ही इस प्रयोग की प्रवृत्तियों में प्रत्येक समुचितवर्गों को सांधने और अनुचित या प्रतिक्रियावादीवर्गों को अप्रतिष्ठित बनाने की अजब करामात है। यह प्रयोग धर्म को बुनियाद में रखते हुए राज्यसंस्था (राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस) को साथ रखकर आगेकूच करने में मानता है। तथापि राज्यसंस्था को समाज का एक अंग मान कर चलता है। इस दृष्टि से यह प्रयोग जनसमाज और उसमें भी ग्राम्यजनसमाज (ग्रामसंगठन)

को सुदृढ़ता देता है। अलबत्ता, आज का ग्राम्यजनसमाज यों का यों अकेला नहीं चल सकता, क्योंकि उसमें धर्म की बुनियाद और संगठन दोनों की कमी है। इसलिए बापूयुग के धर्मजीवी रचनात्मक कार्यकरों के संघ की प्रेरणा व संगठनकर्तृत्व उसके लिए आवश्यक हैं। इसी प्रकार ग्रामसमाज, पूर्वोक्त कार्यकरों का संघ तथा शुद्ध राज्यसंस्था इन तीनों का समुचित रूप से अनुबन्ध करने वाले सर्वांगी दृष्टिवाले धर्मक्रान्तिप्रिय धर्मगुरुओं के मार्गदर्शन की आवश्यकता रहेगी।' इस प्रयोग के विकास में मुख्य एक रोड़ा यह है कि धर्म के नाम से पिछले कई वर्षों से एकांगिता, साम्प्रदायिकता, या कट्टरता का इतिहास होने से इस प्रयोग में गहराई होते हुए भी इसे व्यापकता शीघ्र ही नहीं मिल रही है। दूसरे दोनों प्रयोगों को गांधीजी द्वारा ही व्यापकता मिल गई थी और बापू के निमित्त से कांग्रेस और रचनात्मक कार्यकरों के साथीपन का पुराना इतिहास है। यद्यपि आज दोनों का साथीपन नहीं रहा है।

आज दुनियाभर में संस्था के रूप में राज्यसंस्था सर्वोपरिता ले बैठी है। इसलिए भारत को दुनिया के साथ रहना हो और रहना ही है तो राज्यसंस्था का सहारा लिए बिना नहीं चलेगा। सौभाग्य से, भारत की राष्ट्रीय महासभा शुद्ध राज्यसंस्था के रूप में सिद्ध हो चुकी है, उसकी अवगणना करने या उसे गौण समझने से नहीं चलेगा। क्योंकि हम लोकशाही को सत्य अहिंसा के सन्दर्भ में बुनियाद के रूप में स्वीकार करते हैं, इस दृष्टि से भी कांग्रेस के [illegible] जैसा कोई दूसरी राष्ट्रव्यापी संगठित संस्था नहीं।
धर्मदृष्टि से समाजका निर्माण करना हो तो
नहीं चल सकता, क्योंकि राज्यसंस्था और
बल मुख्यतः कानून और दण्डशक्ति है।
सामाजिक आर्थिक क्रान्ति के प्रश्नों को

संगठन रहें तो क्रमशः शुद्ध व सक्रिय होकर अन्तर्राष्ट्रीयक्षेत्र में कार्य करने के लिए निश्चित हो जाय और तभी कांग्रेस तथा ग्रामसंगठन दोनों मिलकर विश्वप्रश्नों को धर्मदृष्टि से हल कर सकेंगे बशर्ते कि उनके पीछे सर्वांगीणदृष्टिवाले रचनात्मक कार्यकरों की प्रेरणा और क्रान्तिप्रिय अनुबन्धकारों का मार्गदर्शन हो।

इसी दृष्टिकोण को लेकर भालनलकांठाप्रदेश में प्रखर अनुबन्धकार मुनिश्री सन्तबालजी ग्रामसंगठन को सामाजिक आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र रखकर राजनैतिक क्षेत्र में सिर्फ कांग्रेस के साथ उसका अनुबन्ध जोड़ते हैं।

इससे निरपेक्षता रचनात्मक बनती है और राजनीति की सक्रियता से शुद्धि होती है। भूदान से लेकर ग्रामदान तक का काम पहले लेने पर ग्रामसंगठन का काम ढीला पड़ता है और अकेले ग्रामदान का कार्य प्रभावशाली व व्यापक बन नहीं सकता। भविष्य में राज्य की दखलंदाजी का भी ग्रामदान में भय है, इससे राज्यसंस्था और राजनीति की शुद्धि नहीं होती। पक्षों की आज की अशुद्धियाँ कायम रहती हैं। इसके अलावा सत्य अहिंसा के सन्दर्भ में जनता द्वारा लोकशाही का व्यवस्थित विकास नहीं हो सकता। जबकि ग्रामसंगठन का काम पहले लेने पर इन सब बातों की पूर्ति हो जाती है। इसके बाद ग्रामदान हो तो ग्रामदान का मुख्य उद्देश्य भी पूर्णतः सफल हो जाता है। और जनता, राज्य रचनात्मक कार्यकर्ता और क्रान्तिप्रिय साधुसन्त सबको यथायोग्य कार्य मिल जाता है।

इसके अतिरिक्त भालनलकांठाप्रयोग की यह खूबी है कि उसमें व्यापकता और गहराई में माननेवाली जैनदृष्टि के गुण का समावेश होने से वह सबको महत्व देता है, अहिंसक प्रतीकार के कार्यक्रम में सर्वसामान्य जनता को समाविष्ट करता है। जैनदृष्टि के मूल में रहा हुआ जनशासन, राज्यशासन, और जिनशासन का समन्वय भाल-

नलकांठाप्रयोग में होने से वह तीन दयाओं का क्रम रख कर तथा ग्रामों को केन्द्र में रखकर, राज्य के साथ सन्धान करता है, इससे उसमें राज्य जनता, रचनात्मक कार्यकर और अहिंसक साधुसंतों के धर्म की व्यासपीठ पर एकत्र होने की शुभाशा है। जबकि भूदान ग्रामदानप्रयोग के प्रेरक सन्तविनोबाजी के पास वेदान्तदृष्टि होने से राज्य के साथ तथा क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों के साथ उसका अनुबन्ध नहीं हो सका। जनता का भी कोई संगठन उनके द्वारा नहीं होसका और न विश्व के राज्यक्षेत्र के अहिंसक प्रतीकारकबल (कांग्रेस) के साथ संधान हुआ है। इसलिए आमजनता और धनभक्त ऐसे प्रयोग में शामिल हो सकें, ऐसी शक्यता कम है। जबकि भालनलकांठा प्रयोग ग्राम्यजनता के संगठन के साथ राज्यसंस्था, रचनात्मक कार्यकरों के संघ तथा क्रान्तिप्रिय साधुसन्तों का अनुबन्ध होने से शुद्धिप्रयोग द्वारा सर्वसामान्यसुलभ अहिंसक प्रतीकार की सरल प्रक्रिया खडी होगई है। इस प्रयोग की शांतिसेना में भी दीर्घद्रष्टा साधक एवं रचनात्मककार्यकर आकर्षित होने से विश्वशांति की शक्यता है।

इसलिए निचोड यह निकला कि गांधीमार्ग यानी पण्डितजी जैसे राजकीयनेताओं द्वारा पचशील के संदेश द्वारा विश्वशान्ति। सन्त-विनोबाजी यानी भूदान से लेकर ग्रामदान तक के आन्दोलन के प्रेरक व्यक्तिविशेष संस्था के रूप में इस आन्दोलन में एकाग्र हुआ सर्वसेवा संघ। भालनलकांठाप्रयोग यानी मुनिश्री सन्तबालजी की प्रेरणा से मूक गांवों से जन्मा हुआ और समग्र विश्व को मुख्यतः वात्सल्य की श्रृंखला से यथायोग्य स्थान में सांधनेवाला अनुबंधप्रयोग। आज गांधीमार्ग का का माध्यम कांग्रेस बनी हुई है। कांग्रेस की गति विश्व के राजनैतिक फलक के चारों ओर हो रही है। भूदानादि कार्यक्रम का चक्र रचनात्मक कार्यकर्ताओं की धुरी के आसपास फिर रहा है और भालनलकांठाप्रयोग का चाक मुख्य ग्रामों के आसपास और गौणतः क्षेत्र

तीनों बलों का उपयोग करके दिखाता है। अगर तीनों बलों का सुमेल हो तो बेड़ा पार होजाय। आज की दुनिया में भारत को महत्वपूर्ण हिस्सा अदा करना है और उसमें अहिंसादृष्टि से प्रजा, रचनात्मक कार्यकर्ता और कांग्रेस तीनों को साथ मिलकर हिस्सा अदा करना पड़ता। आज तो मानो ये तीनों अलग-अलग सिरे पड़ते हैं। सचमुच इन तीनों को जोड़ने का काम धर्म का है यानी धर्मगुरु का है। इसी लिए मुनिश्री संतबालजी की प्रेरणा से इन तीनों को समुचितरूपेण जोड़ने का कार्य भालनलकांठाप्रयोग में हो रहा है। धर्मदृष्टि से तो इन तीनों के जोड़ने का कार्य सहज स्वाभाविक बन जाता है।

भालनलकांठाप्रयोग में मुख्य दो संस्थाएँ हैं—(१) नैतिकग्राम संगठन और (२) भालनलकांठा प्रायोगिकसंघ। एक शुद्ध ग्रामजनसंगठन है और दूसरा राजनैतिकदृष्टि से पर ऐसा तटस्थ किन्तु अहिंसा धर्म के सन्दर्भ में लोकशाही ढंग का जो सब राष्ट्र में काम करता होगा, उसके समर्थन, विकास, शुद्धि और सिद्धांतनिष्ठा के प्रेरणाप्रदान में सक्रिय कार्य करनेवाला और ग्रामसंगठनों का संचालन करने वाला संगठन है। यह जनता द्वारा अहिंसकप्रयोग करके मूल्यों को प्रतिष्ठित करता है, पुराने गलत मूल्य को हटाता है। इन दोनों (जनसंगठन और जनसेवक संगठन) को क्रमशः कांग्रेस के पूरकबल और प्रेरकबल कहा जाता है। पूरक संस्था आर्थिक-सामाजिकक्षेत्र में राष्ट्रहित को दृष्टि में रख कर ग्रामलक्ष्मी नीति के अमल के लिये प्रयत्न करती है, तथा कांग्रेस से स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। राजनैतिक क्षेत्र में कांग्रेस का मातृत्व स्वीकार करती है। अलबत्ता, इसका उद्देश्य तो सत्य, अहिंसा और राष्ट्रहित है। इसी प्रकार प्रेरकसंस्था शैक्षणिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में स्वतंत्र है। सामाजिक-आर्थिक-क्षेत्र में नैतिक ग्राम-संगठन इसका मुख्य प्रेरित बल है राजकीय क्षेत्र में कांग्रेस इसका मुख्य प्रेरित बल है। प्रायोगिक संघ का आदेश हो या मांगने पर आदेश मिले तो नैतिक ग्रामसंगठन, कांग्रेस

के खिलाफ शुद्धिप्रयोग के साधनों द्वारा अहिंसक प्रतीकार करता है। कांग्रेसजन या कांग्रेस सरकार जहाँ ग्रामसंगठन के कार्यों में हस्तक्षेप करते हैं, वहाँ भी नैतिक ग्रामसंगठन प्रायोगिक संघ की आज्ञा या सम्मति से कार्य करते हैं।

जहाँ कांग्रेस पर आफत के बादल मंडराने लगते हैं, वहाँ भी ग्रामसंगठन और प्रायोगिक संघ दोनों मिल कर शुद्ध साधनों से, सैद्धान्तिक दृष्टि से उसकी रक्षा करते हैं। परन्तु यह ध्यान में रहे कि लोकशाही की रक्षा के लिए कानूनभंग, सिद्धान्तभंग या खोटे मूल्यों को सार्वजनिक प्रतिष्ठा देने का प्रयत्न ये दोनों संस्थाएँ नहीं करतीं। बल्कि जहाँ कानूनभंग सिद्धान्तभंग या खोटे मूल्यों को सार्वजनिक प्रतिष्ठा देने के कार्य राज्यसंस्था (कांग्रेस) या अन्य किसी रचनात्मक संस्था द्वारा हो रहे हों, वहाँ ये उसका विरोध और अहिंसक प्रतीकार तक करती हैं।

भालनलकांठाप्रयोग की विचारधारा कांग्रेस का किसी पार्टीविशेष के मोहवश समर्थन नहीं करती परन्तु वह भारत का एक विशिष्ट राजनीतिक दल है, जिसके सहारे सत्ता को पार्टियों की अखाड़ेबाजी से मुक्त बनाया जा सकता है, निष्पक्ष लोकलक्षी लोकशाही या सत्य-अहिंसा लक्षी लोकशाही जनता के नैतिक आध्यात्मिक प्रभाव द्वारा ही लाई जा सकती है, जिससे आज दुनियाभर की लोकशाहियों के सामने तानाशाही (सरमुख्त्यारशाही) या पूंजीवादीपन का जो भय खड़ा है, उससे उसे उबारा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण को लेकर कांग्रेस के साथ नैतिक ग्रामसंगठन और प्रायोगिक संघ का अनुबन्ध जोड़ने में भालनलकांठाप्रयोग को रस है।

[illegible] ण में मानवजाति के सर्वक्षेत्रीय शोषण और अन्याय-अत्याचार के खिलाफ कानूनरक्षापूर्वक तपत्यागद्वारा अहिंसक प्रतीकार करने की क्षमता है, क्योंकि इसमें चार बलों का परस्पर अनुबन्ध है

इस प्रयोग की सबसे बड़ी खूबी तो यह है कि यह कभी अनुबंध को छोड़ कर आगे नहीं बढ़ता। अनुबंध छोड़ने से मिली हुई या मिल रही सफलता या सिद्धि इसे प्रभावित या आकर्षित नहीं कर सकती। और यह प्रयोग अनुबंधक विचारधारा का पक्षपाती होने के कारण शुद्धि अनुबंध की मूल बुनियाद या आधार सिद्धान्त या सत्य-अहिंसा है, इसलिए राजनैतिक क्षेत्र में सत्य अहिंसा के संदर्भ में महासभा के रूप में कांग्रेस के सिवाय चाहे जैसी संस्था को भारत में वह सार्वजनिक प्रतिष्ठा भी नहीं देता। कांग्रेस की अवगणना करके चलने वाली चाहे जैसी महान संस्था या व्यक्ति हो उसे सामने चल कर सहयोग के लिए आमंत्रण भी नहीं करता। सहज ही किसी का सहकार या सहयोग मिलता हो तो समभाव से किसी का भी सहकार या सहयोग लेने के लिए यह प्रयोग तत्पर रहता है। किसी का आर्थिक सहयोग लेते समय इस प्रयोग की दृष्टि पूंजीवाद को पनपाने की नहीं, अपितु उसे हटाने की रहती है। इसीलिए किसी भी प्रयोगप्रेमीजन के द्वारा *कर्तव्यभाव से दिया गया आर्थिक सहयोग* नम्रतमस्तकपूर्वक लिया जाता है। यद्यपि धन और सत्ता से या निहितस्वार्थियों से, बचने के लिए यह प्रयोग और इस प्रयोग के प्रेरक मुनिश्री उनसे कम मात्रा में कांग्रेस को व पूंजीवाद वगैरह को कहा करते हैं कठोर से कठोर आलोचना भी करते हैं, समभाव से विरोध भी करते हैं। परन्तु अन्तर में उन सबके प्रति 'वात्सल्य' होने से द्वेष या वैरभाव नहीं होता।

इस प्रकार भालनलकांठाप्रयोग ने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक नैतिक और धार्मिक वगैरह सभी क्षेत्रों में अपना अहिंसा का सक्रिय प्रयोग कर दिखाया है। प्रत्येक क्षेत्र में होने वाले अन्याय, अत्याचार, शोषण वगैरह अनिष्टों को रोकने व अहिंसक प्रतीकार करने के लिये

मध्यस्थप्रयोग व शुद्धिप्रयोग करके जनता के दिल में स्थान जमा कर अच्छा प्रभाव डाला है। बड़े बड़े चोटी के नेता, शान्तिप्रिय सत्पुरुष, रचनात्मक कार्यकर्ता और विचारक व हृदयपरिवर्तन में श्रद्धा वाले किसान इस प्रयोग से प्रभावित हुए हैं आकर्षित हुए हैं। इसका क्षेत्र प्रायः समग्र गुजरात, और कुछ अंशों में महाराष्ट्र को भी लगा है। गुजरात, सौराष्ट्र कच्छ और बनासकांठा में इसी प्रयोग की तरह के प्रयोग चल रहे हैं।

इस प्रयोग के मूल में प्रथम होने से ग्रामसंगठन इसमें मुख्य है। उसके तीन अंग हैं-(१) किसानमंडल, (२) गोपालकमंडल और (३) ग्रामोद्योगी-मजदूरमंडल इन तीन अंगोंवाले ग्रामसंगठन और प्रायोगिक संघ द्वारा बहुतसी प्रवृत्तियां नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से चलाई जाती हैं। उनमें से मुख्य प्रवृत्तियां ये हैं—

(१) ग्रामीण लोगों के प्रत्येक प्रकार होने वाले शोषण रोकने के लिये विविध सहकारी प्रवृत्तियां।

(२) उलझे हुए प्रश्नों अथवा हल नहीं होने वाले झगड़ों का मध्यस्थप्रथा द्वारा न्यायी समाधान कराना।

(३) ग्रामजनता द्वारा होने वाले प्रत्येक क्षेत्र के अन्याय, अत्याचार, शोषण, वगैरह अनिष्टों को दूर करने के लिए, जनजागृति के लिए शस्त्र, कानून, सेना, पुलिसतंत्र या अदालतों का आश्रय लिए बिना अहिंसक प्रतीकार के रूप में शुद्धिप्रयोग करना।

(४) गुजरात में जहां-जहां दंगे, मारकाट, तूफान वगैरह हो रहे हों, या होने की संभावना हो वहां शस्त्र, पुलिस, और फौज या कानून-भय का आश्रय लिए बिना अहिंसक कार्य करने वाली शान्तिसेना।

(५) ग्रामों में चलनेवाली सहकारी मंडलियों और ग्रामपंचायतों में ग्रामसंगठन का नैतिक प्रतिनिधित्व नियुक्त करना।

(६) ग्रामों में जलकष्ट और दुष्काल के समय अन्नादि कष्ट-निवारण करने के लिये प्रवृत्तियाँ।

(७) ग्रामीणलोगों में रोग अस्वस्थता और प्रसूति वगैरह प्रसंगों में दवा और सेवाशुश्रूषा की मर्यादित प्रवृत्तियाँ।

(८) पिछड़ी जातियों के बालकों को शिक्षण और संस्कार देने की मर्यादित प्रवृत्ति।

(९) ग्रामों के अनुरूप और बापूजी द्वारा चलाई हुई बुनियादी शिक्षणप्रवृत्ति।

(१०) खादी और ग्रामोद्योगों की प्रवृत्तियाँ।

(११) अनुबंध विचारधारा और ध्येयानुकूल प्रवृत्तियों के लिए वैचारिक क्रान्ति फैलाने वाले 'विश्ववात्सल्य' (पाक्षिक), और 'नवां-मानवी' (मासिक) ये दो पत्र।

(१२) विचार प्रचार के लिए साहित्य प्रकाशन, चिंतन शिबिर, चिंतनसत्र आदि प्रवृत्तियाँ।

इन प्रवृत्तियों को चलाने के लिए मालनलकांठाप्रायोगिकसंघ द्वारा संचालित नीचे लिखी संस्थाएँ चलती हैं —

(१) महावीर साहित्य-प्रकाशन-मंदिर, अहमदाबाद।
(२) विश्ववात्सल्य औषधालय, साणंद और शियाल।
(३) विश्ववात्सल्य चिंतकवर्ग।
(४) जलसहायकसमिति।
(५) शुद्धिप्रयोगसमिति।
(६) शान्तिसेना।

(७) सर्वोदययोजना (मुम्बईसरकार द्वारा)

(८) सघनक्षेत्रयोजना (खादीग्रामोद्योग कमीशन द्वारा)

(९) शिक्षण संस्कारसमिति ।

(१०) ऋषिविद्यालमन्दिर, साणंद ।

(११) किसानमंडल (धोलका, धंधुका साणंद और वीरमगाम चार तालुका में)

(१२) गोपालकमंडल (,, ,, ,, ,, चार तालुका में)

(१३) खादी ग्रामोद्योग मंडल गूंदी ।

इसी तरह भालनलकांठाप्रदेश के ग्राम्य प्रायोगिकसंघ का विश्व वात्सल्य प्रायोगिक संघ के साथ अनुबन्ध भी मुनिश्री द्वारा हुआ है। जिससे ग्राम और नगर की जनता का अनुबन्ध होने से नैतिक जन-संगठन तैयार हुआ है। भविष्य में ग्राम्य प्रायोगिक संघ भारत के ग्रामीण जगत में काम करेगा और विश्ववात्सल्य प्रायोगिकसंघ शहरों और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में काम करेगा। विश्ववात्सल्य प्रायोगिक संघ के अन्तर्गत अभी तो चार जगह (बम्बई में) मातृसमाज' चलते हैं। भविष्य में क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों के संगठन-'विश्व वत्सलसंघ' के स्थापित होने की भी आशा है। साथ ही 'मजूरमहाजन' और 'इंटुक' के साथ भी प्रायोगिक संघ के मीठे सम्बन्ध मुनिश्री की प्रेरणा से हो गये हैं।

गांधीजी के अवसान के बाद मुनिश्री सन्तबालजी महाराज ने गांधीदृष्टि को नवयुग के सांचे में ढालकर इस प्रकार भालनलकांठाप्रदेश में गत १३-१४ वर्षों से पूर्वोक्त अनुबन्धचतुष्टय का प्रयोग किया है। मुनिश्री का यह मानना है कि देश के प्रेरक (रचनात्मककार्यकर्ता)

और मार्गदर्शक (अनुबन्धकार क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग) मार्गदर्शन से विश्ववात्सल्य अनुबन्ध के सक्रिय प्रयोग करें तो देश और दुनिया का कायापलट हो सकता है।

अनुबन्धकार तैयार हों!

आज विश्व में रूस और अमेरिका जैसे राष्ट्रों में शस्त्रास्त्रों की होड़ लग रही है, ऐसे समय में जगह-जगह अहिंसा के सक्रिय विविध प्रयोग होने चाहिए; ताकि विश्वयुद्ध या शीतयुद्ध रुक सके, और यह काम अनुबन्धकार के द्वारा ही हो सकता है। अन्यथा भारतीय संस्कृति का बुनियादी सवाल, जिसे हम आध्यात्मिक प्रश्न कहते हैं, कैसे हल होगा? महात्मा गांधीजी ने धर्मगुरुओं से बहुत आशा रखी थी; यह उनके धर्ममंथन ग्रन्थ से हम जान सकते हैं।

भारतीय संस्कृति के बुनियादी सवाल शुद्ध साधन और स्वच्छ संगठनों द्वारा हल करने का काम क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वी ही कर सकते हैं।

भारत के क्रान्तिप्रिय विचारक साधुसाध्वी भूतकाल में नहीं चेते, उसके प्रत्यक्ष परिणामस्वरूप आज की पूंजीवादी पकड़ से त्रस्त या संकुचित बनी हुई धर्मसंस्था के तथाकथित सभ्यों का क्षोभ सहन करके भी वे इस अनुबन्धसाधना के धर्मकृत्य को करेंगे तो भगवान् का उन्हें परोक्ष आशीर्वाद मिलेगा तथा जनता जनार्दन का प्रत्यक्ष आशीर्वाद तो मिलेगा ही। तभी सच्ची लोकशाही और अहिंसक समाज का निर्माण हो सकेगा।

अब अन्य किसी भी प्रकार का विचार किये बिना शीघ्रातिशीघ्र उन्हें आज के व्यापक-अनुबन्ध धर्ममार्ग की सभी व्यापक व्यक्तियों व संस्थाओं का अनुबन्ध जोड़ना चाहिए। क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों की सर्वांगीण प्रेरणा तथा अनुबन्ध साधना के बिना इस देश व विश्व की बिखरी हुई आध्यात्मिक शक्ति को कोई प्रेरणा तथा साधना, अनुबन्धित नहीं

व्यक्ति का विकास समाज में ही हो सकता है, कि मनुष्यकी प्रकृति जितनी आत्मकेन्द्री है, उतनी ाजिक भी है। समाज और व्यक्ति को अलग अलग किये जा सकते। जीवन के सभी व्यवहारो मे ये दोनो मिल कर ही कार्य करते हैं और ये दोनो अेक दूसरे नाथ अनुबद्ध है। इस अनुबन्ध को ठुकराने से व्यक्ति समाज दोनो को हानि पहुँचती है।'

—महात्मा गाधी

☆

'मनुष्य का अन्तिम ध्येय ईश्वरसाक्षात्कार है। और ाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आर्थिक इत्यादि उसकी ी प्रवृत्तियाँ ईश्वरदर्शन के इस ध्येय को मध्येनजर ते हुए ही होनी चाहिए। मानवमात्र की तात्कालिक ा उसकी इस साधना का एक आवश्यक अग बन जाता इसका कारण यह कि ईश्वर की शोध का एकमात्र उसके साथ एकरुप होना है, और यह प्राणिमात्र की ा से ही हो सकता है। मैं समग्रसृष्टि का ही एक हूँ और बाकी की मानवजाति से अलग तरह से मै खोज नहीं सकता।'

- महात्मा गाधी

☆

ग्रेस विश्वभर मे सच्ची लोकशाही स्थापित करने कार्य करे, रचनात्मक कार्यकर्ताओ की संस्थाएँ शुद्ध म्य और शुद्ध नगरो के सगठनो की सधि मे पूर्ति के थ प्रेरणा दे। तथा क्रान्तिप्रिय सत इन सब मे आध्या त्मकता तथा सत्य अहिंसा की वृद्धि करने का बल सींचा है।'

—संतबाल

☆

कर सकती। इसलिए समय रहते अनुबन्धकार अणुयुगवादी सो
समशान्ति के लिए तैयार हो जाना चाहिए और प्रत्यक्ष होना है
और स्वपरहितकारी अनुबन्धकार्य शुरू कर देना चाहिए।

प्रभु से मैं विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि क्रान्तिप्रिय साधुसा
शीघ्रातिशीघ्र इस अनुबन्धपद्धति को सम्यक् प्रकार से अपना ले
और शीघ्र ही उन्हें अपने इस स्वधर्म पालन में बल मिले।

अन्त में, आज के युग के प्रखर अनुबन्धकार की पंचसूत्री
मयी अनुबन्धक भावनाएँ देकर मैं अपना लेख पूरा करता हूँ —

(१) व्यक्ति, समाज और समष्टि का कल्याण हो।
(२) व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ सुव्यवस्थाएँ प्रतिष्ठा पाएँ।
(३) विश्वराज्यों में शुद्धि, एकता और अहिंसा प्रविष्ट हो।
(४) चार अनुबन्धवाली विचारधारा चारों ओर फैले।
(५) नैतिक जनसंगठन, राष्ट्रीय महासभा, प्रायोगिक संघ और क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वी सम्यक्रूप से अनुबद्ध होकर सहयोगपूर्वक कार्य करें।

(समाप्त)

'व्यक्ति का विकास समाज में ही हो सकता है, कि मनुष्यकी प्रकृति जितनी आत्मकेन्द्री है, उतनी सामाजिक भी है। समाज और व्यक्ति को अलग अलग किये जा सकते। जीवन के सभी व्यवहारों में ये दोनों मिल कर ही कार्य करते हैं और ये दोनों ओक दूसरे के साथ अनुबद्ध हैं। इस अनुबन्ध को ठुकराने से व्यक्ति और समाज दोनों को हानि पहुँचती है।'

—महात्मा गांधी

☆

'मनुष्य का अन्तिम ध्येय ईश्वरसाक्षात्कार है। और सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक इत्यादि उसकी सभी प्रवृत्तियाँ ईश्वरदर्शन के इस ध्येय को मध्यनज़र रखते हुए ही होनी चाहिए। मानवमात्र की तात्कालिक सेवा उसकी इस साधना का एक आवश्यक अंग बन जाता है। इसका कारण यह कि ईश्वर की शोध का एकमात्र मार्ग उसके साथ एकरूप होना है, और यह प्राणिमात्र की सेवा से ही हो सकता है। मैं समग्रसृष्टि का ही एक अंश हूँ और बाकी की मानवजाति से अलग तरह से मैं उसे खोज नहीं सकता।'

- महात्मा गांधी

☆

'कोंग्रेस विश्वभर में सच्ची लोकशाही स्थापित करने का कार्य करे, रचनात्मक कार्यकर्ताओं की संस्थाएँ शुद्ध साध्य और शुद्ध साधनों के संगठनों की संधि में पूर्ति के साथ प्रेरणा दे। तथा शान्तिप्रिय मत इन सब में आध्यात्मिकता तथा सत्य अहिंसा की वृद्धि करने का बल सौंपा करे।'

—संतबाल